आचार्य उपगुप्त

आचार्य चतुरसेन

प्रवीण प्रकाशन
नई दिल्ली-110030

एक

सन्ध्या हो चुकी थी, सूर्य अस्त हो गया था, पर पश्चिम दिशा में अभी लाल आभा शेष थी। वन विहंगम भांति-भांति के शब्द करते वृक्षों में बसेरा ले रहे थे। उनके कलरव से वह सांध्य वन मुखरित हो उठा था। पूर्व-दक्षिण कोन से जो प्रधान राजमार्ग मथुरा को जाता है, उस पर तीन यात्री धीरे-धीरे आगे बढ़ रहे थे। यात्री बहुत दूर से आ रहे थे और वे अत्यंत क्लांत और थकित थे। उनमें एक वृद्ध था, दो युवक। उन दोनों में भी एक अति किशोर वयस्क सुकुमार बालक था, जिसकी आयु कठिनता से चौदह की होगी।

मध्यवर्ती युवक ने वृद्ध को सम्बोधित करके पूछा—'लल्ल, मथुरा तो आ गई। आशा है, अब विश्राम मिलेगा। परंतु लल्ल, क्या तुम्हें आशा है कि श्रेष्ठिवर हमें आश्रय देंगे? वे हमें पहचान सकेंगे और हमारा भेद गुप्त रख सकेंगे?'

'अवश्य ही ऐसा होगा, श्रेष्ठि धनगुप्त महाराज के परम मित्र, अनुगृहीत और सेवक हैं।'

किशोर वयस्क बालक का ध्यान दूर से आती किसी गायन की ध्वनि पर था। उसने अतिशय क्लांत होकर कहा—'महानायक, अब और कितना चलना पड़ेगा? मुझसे तो एक पग भी और चलना कठिन है। देखो, मेरे पैर क्षत-विक्षत हो गए हैं।'

लल्ल ने क्षण भर रुककर, पीछे फिर बालक को देखा, उसके ओष्ठ कम्पित हुए और नेत्रों में एक कण अश्रु बिंदु आकर गिर गया। पर उसने

किंचित हँसकर कहा—'अब तो आ गए, थोड़ा धैर्य और।'

'अब और नहीं,' कहकर बालक वहीं सड़क-किनारे एक शिला खंड पर बैठ गया। दूसरे युवक ने प्यार से उसका हाथ पकड़कर कहा, 'इस मार्ग में देर करने से क्या लाभ? सूर्य छिप गया है, यदि द्वार बंद हो गए तो बाहर ही रात काटनी होगी और वन्य पशु फिर लल्ल को सोने न देंगे।'

बालक फिर चला। लल्ल आगे बढ़ा। नगर के दक्षिण द्वार पर नगर-रक्षक रात्रि के लिए नवीन प्रहरियों की गिनती कर रहा था। तीनों यात्रियों ने चुपचाप द्वार में प्रवेश किया। किसी ने इन यात्रियों की ओर ध्यान नहीं दिया। लल्ल ने विनीत भाव से युवक से कहा—'यदि आज्ञा हो तो रात किसी अतिथिशाला में काट ली जाए, फिर प्रातःकाल श्रेष्ठिवर का घर ढूंढ़ लिया जाएगा। अब इस समय कहां भटका जाएगा?'

इतना कह उसने एक दृष्टि किशोर बालक पर फेंकी और युवक की आज्ञा की प्रतीक्षा में खड़ा रहा। युवक ने कहा—'नहीं लल्ल, किसी से श्रेष्ठिवर का घर तो पूछो।'

तीनों यात्री थकित भाव से एक वृक्ष के नीचे विश्राम लेने बैठ गए। लल्ल सामने ही एक भग्न अट्टालिका को ध्यान से देखने लगे। एक युवक द्वार से आगे बढ़कर बाहर निकला। लल्ल ने आगे बढ़कर उससे पूछा—'मित्र क्या आप हमें श्रेष्ठिवर धनगुप्त की हवेली बताने की कृपा करेंगे?'

'यही है श्रीमान्! आपका यहां से पधारना हुआ है। आइए, भीतर आइए। घर को पवित्र कीजिए।'

लल्ल से जब एक परम सुंदर युवक ने अति नम्रतापूर्वक ये शब्द कहे, तब लल्ल आंखें फाड़-फाड़कर उस युवक और सामने के उस साधारण घर को देखने लगे।

'अवश्य ही भ्रम हुआ है, हम से ठट्ठा मत करो मित्र। हम परदेशी हैं, असहाय हैं। हम महाश्रेष्ठि धनगुप्त की हवेली में जाना चाहते हैं।'

'तो आइए, भीतर आइए। चरण रज से घर को पवित्र कीजिए।'

किंतु—यह टूटा-फूटा घर। नहीं-नहीं, यह नगर श्रेष्ठि की हवेली नहीं हो सकती। तुम क्या महाश्रेष्ठि धनकुबेर धनगुप्त को जानते हो मित्र?

'श्रीमान्, यह दास उन्हीं का पुत्र है।'

'आप श्रेष्ठि धनगुप्त के पुत्र ? और यह उनका घर ? आपका शुभ नाम ?'

'सेवक का नाम उपगुप्त है।'

'उपगुप्त, उपगुप्त। ओह ! सचमुच आप··· परंतु श्रेष्ठिवर कहा है ?'

'पूज्य पिताजी का स्वर्गवास हुए आठ वर्ष हो गए।'

'स्वर्गवास !'—लल्ल ने मुह फैला दिया।

'श्रीमान् अवश्य ही पितृ-चरणों के बन्धु हैं। मेरा प्रणाम स्वीकार कीजिए।'

'उपगुप्त श्रेष्ठिवर !' इतना कहकर लल्ल ने युवक को दौडकर भुज-पाश मे बाध लिया। कुछ ठहरकर लल्ल बोले—'समझा। पिता के बाद लक्ष्मी ने भी उसके पुत्र को त्याग दिया। वाह रे कराल काल। जिसके पोत पृथ्वी के सात समुद्रों मे अबाध रूप मे चला करते थे, नव-व्यापार मे समृद्र पटा रहता था और यवन, चीन, काम्बोज और सिहल तक जिसकी हुण्डी चलती थी, उसका यह पुत्र नगे पाव खडा राजमार्ग पर अतिथि का सत्कार कर रहा है, और जहां द्वार पर सेना और हाथियो की पक्ति रहती थी, उस द्वार पर आज जीर्ण कपाट भी न रहे। हाय रे निर्मम विधाता।' यह कहकर लल्ल रोने लगे। एक बार उन्होंने फिर युवक को छाती से लगा लिया।

उपगुप्त ने धैर्य से पूछा—'आर्य, परिचय देकर कृतार्थ करें। यह तो मैं समझ गया, आर्य पितृ-तुल्य पूज्य हैं, आज मेरा जन्म इन चरणों की सेवा से कृतार्थ होगा।'

'श्रेष्ठिवर उपगुप्त, ईश्वर को धन्यवाद है कि श्रेष्ठिवर धनगुप्त को केवल चचला लक्ष्मी ने ही त्यागा। पर उनका विनय, सौजन्य और अतिथि-सत्कार उनके पुत्र मे वैसा ही है जो श्रेष्ठिवर की सब सम्पत्तियो मे अमूल्य थी ! किंतु पुत्र, अब परिचय की आवश्यकता नही, तुम्हारा कल्याण हो। अब मैं चला।'

इतना कहकर लल्ल चलने को तैयार हुए। उपगुप्त ने कातर स्वर से कहा—'आर्य, क्या दरिद्रता के कारण दास का आप त्याग कर रहे हैं ? यह न होगा। श्रीमान् यदि मेरा आतिथ्य न स्वीकार करेंगे, तो मै प्राण त्याग दूगा। आर्य, मैं कभी असत्य नही कहता।'

लल्ल क्षण-भर स्तब्ध खड़े रहे। फिर उन्होंने कहा—'श्रेष्ठिवर, मेरे साथ और भी दो व्यक्ति हैं। देखो वे सम्मुख वृक्ष के नीचे बैठे हैं।'

'ओह, आपने कहा नहीं।' यह कहकर उपगुप्त उधर दौड़े।

लल्ल ने रोककर कहा—'श्रेष्ठिवर ठहरिए, निस्संदेह हम लोग आपके पिता का आश्रय प्राप्त करने के लिए ही यहां आए थे पर अब नहीं श्रेष्ठिराज, हम लोग आपको अपने कारण विपत्ति और चिन्ता में नहीं डालेंगे। ईश्वर आपका कल्याण करे।'

'तब आर्य, मैं निश्चय प्राण-त्याग करूंगा।'

'नहीं श्रेष्ठि। आपका इस अवस्था में आतिथ्य स्वीकार न करने के कारण हैं। आप हमारे कारण विपत्ति में फंस सकते हैं।'

'तो इसमें क्या, मैं प्राण देकर भी हर्षित हूंगा।'

'यह ठीक नहीं होगा श्रेष्ठि।'

'आर्य, आज तक मैं अपने दारिद्र्य के लिए लज्जित नहीं हुआ। क्या अब श्रीमान मुझे लज्जित करेंगे?'

'नहीं, नहीं, श्रेष्ठिराज, बात कुछ और ही है। अच्छा तब मैं स्वामी से आज्ञा ले लूं।'

'मैं स्वयं ही उनके चरणों में प्रार्थना करूंगा। चलिए।'

इतना कहकर उपगुप्त ने दोनों युवकों के निकट जा उनकी चरण-रज मस्तक पर लगाई। फिर लल्ल से कहा—'आर्य आपकी चरणरज ग्रहण करके अनुगृहीत हुआ। अब अपना और पूज्यों का परिचय देकर कृतार्थ करें।'

'श्रेष्ठिराज, ये कलिंगराज—महिषी पट्टमहारानी चन्द्रलेखा और यह कलिंगराज नन्दिनी शैलबाला हैं। मगध के प्रतापी सम्राट चण्डाशोक ने कलिंग का महाराज्य भंग कर डाला है। हमारे एक लाख योद्धाओं का युद्ध भूमि में हनन हुआ। महाराज युद्ध-भूमि से लौटे नहीं, न उनका शरीर ही प्राप्त हुआ है। महाराजकुमार हरिद्वार में स्वामी चिदानन्द के आश्रम में गुप्तवास कर रहे हैं। मैं महानायक भट्टारकपादीय लल्ल हूं। राज परिवार घोर विपत्ति में पड गया, तब इन महिलाओं को पुरुष वेश में लेकर मैं आपके पिता के आश्रय की कामना से चल पडा। धनगुप्त श्रेष्ठिराज को छोडकर और कौन इन राज अतिथियों को आश्रय दे सकता था? चण्डाशोक ने

सर्वत्र चर छोडे है । जो कोई राज परिवार और कुमार जितेन्द्र को पकड़ाए देगा, उसे दस सहस्र सुवर्ण मुद्राए दी जाएंगी । और जो कोई इस परिवार को आश्रय देगा, उसे प्राण-दण्ड होगा । श्रेष्ठिराज इसलिए हम आपको इस दुरवस्था में आपको विपत्ति मे नहीं डालना चाहते थे ।'

उपगुप्त ने सब सुनकर कहा—'राजमाता और राजपुत्री तथा आपके चरणों से यह घर तो पवित्र हुआ ही, अब आपकी सेवा से शरीर को धन्य करूंगा ।'

'आइए महाभाग, भीतर चलिए ।'

'परंतु सावधान रहना । आप अपनी पत्नी तक से यह परिचय गुप्त रखेंगे और इनका पुरय-परिचय ही देंगे ।'

श्रेष्ठिवर ने स्वीकार किया । तब अतिथियो ने भी घर में प्रवेश किया।

अतिथियों के विश्राम की व्यवस्था करके उपगुप्त ने अपनी पत्नी से जाकर कहा—'कुन्द ! मेरे स्वर्गीय पिता के मित्र हमारे पूज्य अतिथि आए हुए है, उनका आतिथ्य सत्कार जैसे बने करना ही होगा ।'

कुन्द ने कुण्ठित होकर कहा—'परंतु स्वामिन्, घर मे तो कुछ भी सामग्री नही है, अतिथि खाएगे क्या ?'

उपगुप्त चुपचाप पत्नी के मुह की ओर देखने लगे । उन्होने कहा—'कुन्द ! क्या किसी भी तरह तुम व्यवस्था नही कर सकती ? क्या और कोई आभूषण नही है ?'

'नही ।'

'तब कोई अनावश्यक पात्र बंधक रख दिया जाए ।'

'यही करना होगा, और उपाय क्या है ?'

उपगुप्त ने विकल होकर कहा—'परंतु कुंद । तुम्ही इसकी व्यवस्था कर लेना, जिसमे हमारा नाम न प्रकट हो ।'

कुंद ने कुछ कहने को मुख खोला ही था कि द्वार मे कुछ मनुष्यों ने श्रेष्ठि को पुकारा । श्रेष्ठि ने बाहर आकर देखा, आठ-दस राजकर्मचारी है और साथ मे ऋणदाता महाजन है । उसने कहा—'आइए महानुभाव, आपका स्वागत है ।'

परन्तु महाजन ने कर्कश स्वर में कहा—'श्रेष्ठि उपगुप्त, हमारा

चुकता पावना अभी चुकाओ अथवा बन्दी गृह में जाओ।'

श्रेष्ठिवर ने घबराकर विनयपूर्वक कहा—'मित्र आप तो जानते ही हैं, मैं इस समय कितने कष्ट में हूं, फिर आज अभी मेरे घर में पूज्य अतिथि आए हुए हैं। श्रेष्ठिवर, कुछ और धैर्य धारण कीजिए, नहीं तो बड़ा अनर्थ हो जायेगा।'

ऋणदाता ने अवज्ञा से हंसकर कहा—'मैं ऐसा मूर्ख नहीं हूं। रकम भी छोटी नहीं है। अब और धैर्य किस आशा पर? दस सहस्र स्वर्ण मुद्रा अभी दो, अन्यथा ये कर्मचारी तुम्हें बंदी कर लेंगे।'

उपगुप्त ने विवश होकर कहा—'तब मित्र, मुझे कुछ क्षणों का अवकाश दीजिए, मैं अपने पूज्य अतिथियों और पत्नी की कुछ व्यवस्था कर दूं।'

प्रधान राज-कर्मचारी ने आगे बढ़कर कर्कश स्वर में कहा—'महोदय, इसके लिए हम लोग बाध्य नहीं। क्या आप कृपापूर्वक अभी धन देते हैं?'

'नहीं, धन अभी नहीं है।'

'तब सैनिको, इन्हें बांध लो।'

क्षण-भर में सैनिकों ने श्रेष्ठि को बांध लिया। विवाद सुनकर लल्ल और राजकुमारी बाहर आ गए थे। कुन्द भी सब व्यापार देख रही थी। सभी विमूढ़वत खड़े रहे। वे लोग श्रेष्ठिवर को बांध ले चले। कुन्द पछाड़ खाकर धरती पर गिर पड़ी।

दो

इस अप्रत्याशित घटना ने तीनों ही अतिथियों को विचलित कर दिया। महानायक गम्भीर दुख और विचार में मग्न हो रात-भर सो न सके। प्रातः-काल प्रभात होने पर वे तीनों अपने कक्ष में विचार-विमर्श करने बैठे।

घटना का विवरण सुनकर महरानी ने कहा—'महानायक, यह तो बड़ी खराब बात हो गई। अब श्रेष्ठि को हमें प्राण देकर भी इस कष्ट से छुडाना होगा।'

लल्ल ने उत्तर दिया—'यह तो कठिन समस्या है महारानी। हमारे पास धन नही है, फिर भेद फूटने का भी भय है।'

राजकुमारी बोली—'माता, यह बहुत ही सरल है। एक उत्तम उपाय मुझे सूझा है।'

महारानी ने उदासी से कहा—'तू क्या करेगी भला।'

राजकुमारी ने हंसकर धीरे से कहा—'भैया से मेरी आकृति मिलती है न ? क्यो महानायक ?'

'यह क्या हास्य का प्रसंग है।'

'नहीं मां, पुरुष वेश में मैं भैया ही प्रतीत होती हूं। तुम्हीं तो कई बार कह चुकी हो।'

'हां, पर इससे क्या ?'

'भैया को जीवित या मृत पकडवाने का पुरस्कार दस सहस्र स्वर्ण है। इतना ही तो श्रेष्ठि को चाहिए। मैं अपने को भैया की जगह पकडा देती हूं। उस धन से श्रेष्ठि मुक्त हो जाएगे।'

यह कहकर वह खिलखिलाकर हंस पडी।

महारानी ने घबराए स्वर में कहा—'वाह, यह कैसी बात ?'

राजकुमारी महानायक से बोली—'आप श्रेष्ठि-पत्नी से कह दीजिए कि उसके घर में कलिंग-राजकुमार छिपा हुआ है, जिसके सिर पर दस सहस्र स्वर्ण पारितोषिक है। उसे पकड़कर यह धन प्राप्त कर अपने पति को छुड़ा लें।'

'शान्तं पापम्, शान्तं पापम्, भला ऐसा भी कही हो सकता है ?'

'खूब अच्छी तरह हो सकता है।'

'परन्तु यह अत्यन्त भयानक है।'

'चाहे जो कुछ भी हो।'

रानी बोली—'यह तेरा पागलपन है।'

राजकुमारी ने उत्तर दिया—'नहीं मां, मैंने सब बातों पर विचार कर

लिया है।'

'किन बातों पर।'

राजकुमारी ने बताया कि इसमें दो लाभ होंगे। एक तो श्रेष्ठि मुक्त हो जाएगे। दूसरे, भैया की खोज जाच रुक जाएगी। वे सुरक्षित रह सकेंगे।

'परन्तु चक्रवर्ती के ये बर्बर सैनिक कैसी निर्दयता से तेरा वध करेंगे। चक्रवर्ती तक जीवित पहुच भी गई तो वह शत्रु तुझे क्या जीवित छोड़ेगा?'

राजकुमारी लजाकर स्निग्ध स्वर में बोली—'मा, चक्रवर्ती की आज्ञा भैया को जीवित ही पकडने की है। जीवित पकड़ कर वे वध नही करेंगे। चक्रवर्ती के सम्मुख ले जाएगे। वहा पहुंचकर मैं चक्रवर्ती से निबट लूगी।'

'न-न, मैं तुझे यह दुस्साहस न करने दूगी। चलो, हम लोग यहा से चल दें।'

शैल ने आंखो में आसू भर कर कहा—'क्या श्रेष्ठि-वधू को इस विपन्नावस्था मे असहाय छोडकर? आज कलिंग-राजमहिषी इतनी स्वार्थ-रत हो गई कि जिनका उदार आश्रय प्राप्त किया, उसे ही इस विपन्नावस्था में छोड जाएंगी।'

इस विवाद मे महानायक गम्भीरता से कुछ सोचते रहे। उन्होंने खास-खखारकर गम्भीर कण्ठ से कहा—'राजकुमारी ठीक कह रही है, राजमाता। विशिष्ट अवसरो पर ही विशिष्ट पुरुष अपना त्याग और उत्सर्ग प्रकट करते है। राजकुमारी का त्याग उनके वंश के अनुरूप है। चाहे जो भी हो, श्रेष्ठिवर को मुक्त कराना ही होगा।'

महारानी महानायक की इस बात से चमत्कृत हो उदास हो उठी। उन्होंने पूछा—'तब क्या दूसरा उपाय उपयुक्त नही?'

'नही।'

महारानी गम्भीर चिन्ता मे मग्न हुई। शैल ने कहा—'माँ, मैं कलिंग की राजकुमारी हूं। शस्त्र-विद्या और अश्वारोहण में पिता ने मुझे भैया के ही समान शिक्षा दी है। अब एक बार मैं चक्रवर्ती के सम्मुख जाकर स्वय उसके इस पातक और अत्याचार के सम्बन्ध मे पूछना चाहती हूं। इससे अवश्य हमारा भी कल्याण होगा।'

यह सुन महारानी ने महानायक से कहा—'तो लल्ल, तुम श्रेष्ठि-वधू

से कह दो कि तुम्हारे घर मे कलिंग का राजकुमार छिपा हुआ है, उसे पकड़ा कर श्रेष्ठि को छुड़ा लो।'

'मुझसे तो कहा न जायगा। राजकुमारी ही कहे।'

राजकुमारी ने आग्रहपूर्वक कहा—'महानायक, तुम्ही जाकर कहो, जिससे भेद न फूटे। जाओ, अभी जाओ।'

लल्ल भारी सांस लेकर उठे—'अच्छा, वाह री भाग्य-विडम्बना।'

महानायक का प्रस्ताव सुनकर श्रेष्ठि वधू भय, आश्चर्य और दुख मे विमूढ हो गई। उसने कहा—'क्या कलिंग का राजकुमार ?'

'जी हां, यह युवक वही कलिंग-राजकुमार है, जिसे मृत या जीवित पकड़वाने वाले को चक्रवर्ती ने दस सहस्र स्वर्ण पारितोषिक घोषित किया है। इतने ही मे तो श्रेष्ठि छूट जाएगे।'

'और मैं उन्हें पकड़ा दू ? अतिथि को ? जो मेरे पति के ही पूज्य नही, उनके पूज्य स्वर्गीय पूज्य पिता के भी पूज्य है। महोदय, आप वृद्ध हैं, सब भांति पूजनीय हैं। मुझे आपसे ऐसे नीच प्रस्ताव की आशा न थी। आप तो अपने ही स्वामी से विश्वासघात कर रहे हैं। मैं विपन्नावस्था मे अवश्य हूं, परन्तु अभी मुझमें कर्त्तव्य-बुद्धि है।'

'किन्तु श्रेष्ठि वधू, राजकुमार ने स्वयं यह प्रस्ताव करके मुझे आपके पास भेजा है।'

'क्या स्वयं राजकुमार ने ?' श्रेष्ठि वधू ने विमूढ़ होकर पूछा।

'जी हां, उन्ही के अनुरोध से तो यहां आया हूं।'

'तो कुमार की उदारता और त्याग की सीमा नही है। उनके चरणो में मेरा शत-शत प्रणाम कहिए और मेरी ओर से निवेदन कर दीजिए कि मुझ विपदग्रस्तता असहाया स्त्री को अधर्म की राह न दिखाए। भला कही अतिथि के साथ भी विश्वासघात हो सकता है।'

'विश्वासघात कैसा ?''

'नही-नही, शान्तं पापम्, शान्तं पापम्। मेरे कान जल जाएं, मेरी वाणी मूक हो जाय। ऐसी बात मुझसे मत कहिए।'

राजकुमारी भी वहां आ पहुंची। उसे देखकर श्रेष्ठि वधू ने कहा—'अभिवादन करती हूं। पूज्य राजकुमार मुझ विपदग्रस्तता का अपराध

आप क्षमा कीजिए। इस आकस्मिक वज्रपात के कारण आपका आतिथ्य भी''''' इतना कह वह सिसक-सिसक कर रोने लगी।

'देवी, आप मेरा अनुरोध मान मेरी यह तुच्छ सेवा स्वीकार कर मुझे प्रसन्न कीजिए।'

'नही-नही, शान्त पापम्, शान्तं पापम्।'

'आप पतिप्राणा, साध्वी और धर्मात्मा है। आपका सौभाग्य अचल रहे। श्रेष्ठिवर महान पुरुष हैं। मुझे प्रसन्नता होगी कि मेरा शरीर हमारे मित्र के काम आए।'

श्रेष्ठि वधू रोते-रोते बोली—'राजकुमार, हमें विपन्न समझ, आप हमारा अपमान कर रहे हैं। भला ऐसी अधर्म की बात आपके मुख से शोभा देती है?'

'इसमें अधर्म क्या है श्रेष्ठि वधू, मुझे तो स्वयं चक्रवर्ती की सेवा में जाना ही है।'

'पर मैं यह कुकृत्य नही करूंगी, नहीं करूंगी।'

'तो श्रेष्ठि कैसे छूटेंगे?'

'चाहे जो भी हो, मैं सहन करूंगी।'

'नहीं-नही, कदापि नही, तब मुझे स्वयं यह कार्य करना होगा।'

'आह राजकुमार, अधर्म की बात मुह पर मत लाइए। ऐसा मत कहिए।'

'देवी, दूसरा उपाय नही है। फिर मुक्त होने पर श्रेष्ठि किसी-न-किसी उपाय मे मुझे मुक्त करा ही लेंगे। फिर यह तो मै स्वयं ही कह रहा हूं। आपका दोष नहीं है। सोचिए तो श्रेष्ठिवर को वहां कितना कष्ट होगा।'

'नहीं-नही।' वह सिसक-सिसककर रोती हुई भूमि पर गिर पडी।

यह देख राजकुमारी ने महानायक से कहा—'शोक और दुख से श्रेष्ठि वधू अभिभूत हो गई हैं। अब हमें ही सब काम करना होगा, तुम स्वयं जाओ। यह संदेश राजद्वार पर ले जाओ और नगराध्यक्ष को बुला लाओ।'

महानायक ने भरे कण्ठ से कहा—'जाता हूं। तुम्हारा कल्याण हो।'

'नहीं-नही, मत जाइए, मत जाइए।' कहकर श्रेष्ठि वधू मूर्छित हो

गई।'

कुछ ही देर में बहुत से सशस्त्र सैनिकों ने आकर श्रेष्ठि की हवेली को घेर लिया। उन्होंने श्रेष्ठि वधू से पूछा—'कहा है कलिंग राजकुमार।'

श्रेष्ठि वधू रोती हुई द्वार रोककर बोली—'नही-नही, यहा कलिंग का राजकुमार नही है, नही है।'

'श्रेष्ठि वधू, तुमने बुद्धिमानी का काम किया है। अब तुम द्वार से हट जाओ। हमें चोर को पकडने दो।'

'मैं अबला स्त्री हूं। मुझ पर अत्याचार मत करो। जाओ, चले जाओ।'

'पर कलिंग का राजकुमार कहां है?'

राजकुमार ने धीर गति से आकर कहा—'मैं कलिंग का राजकुमार हूं, तुम्हारा मुझसे क्या प्रयोजन है?'

राजकुमार को देखते ही नायक ने आदेश दिया—'सिपाहियो, बाध लो इसे।'

श्रेष्ठि वधू ने रोते-रोते कहा—'अरे, अधर्म मत करो। भाइयो, मेरा और मेरे पति का कुल कलंकित हो जाएगा।'

परन्तु किसी ने भी उस करुण रुदन पर ध्यान नही दिया। नगराध्यक्ष ने पुरुषवेशधारी कलिंगराज नदिनी को बांध लिया और दस तोड़े वही गिनकर उसे ले चले। बहुत से मनुष्यों की भीड एकत्रित हो गई थी। सब लोग 'अनर्थ हुआ', अधर्म हो गया, श्रेष्ठि के अतिथि को बांध लिया, कहने लगे।

'राजकुमार जैसा सुकुमार है, वैसा ही वीर साहसी भी है।'

'पर श्रेष्ठि का विश्वासघात अक्षम्य है।'

'श्रेष्ठि का नही रे, सेठानी का कह। क्या तूने नही सुना, स्त्री की बुद्धि में विवेक नही रहता।'

लोगों की यह बात सुन श्रेष्ठि वधू हाय, कुल कलंकित हो गया। मै अधम अभी जीवित ही हूं।' कहकर फिर मूर्छित हो भूमि पर गिर गई।

महारानी ने भरे कण्ठ मे आसू पोंछकर महानायक से कहा—'जाओ, ये स्वर्ण मुद्रा ले जाओ और श्रेष्ठिवर को छुड़ा लाओ। तब तक मैं श्रेष्ठि-

वधू को सभालने का यत्न करती हूं ।'

महानायक स्वर्ण मुद्रा ले अश्रुपूर्ण हो वहां से चल दिए ।

तीन

श्रेष्ठि अस्त-व्यस्त शीघ्रता से घर में आकर पूछने लगे ।

'किस महोदय ने इतनी कृपा की कुन्द, धन्य है वह ! परन्तु हां, अतिथियों का तो ठीक सत्कार हुआ न ? किंतु अरे । यह तुम्हारा मुख सफेद क्यों हो गया । अयं, रोने लगी ?'

पति का यह कथन सुन श्रेष्ठि वधू रोती हुई पछाड़ खाकर भूमि में गिर पड़ी ।

पत्नी का यह दु.ख देख श्रेष्ठि ने और भी व्यग्र होकर पूछा—'क्या बात है कुंद ? कुंद, तुम्हें क्या दु:ख है । तुम पहले उस कृपालु मित्र का नाम बताओ कुन्द । हमें उसका उपकृत होना है । उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करनी है ।'

श्रेष्ठि वधू हिचकियां लेते हुए बोली—'अधर्म, अधर्म, हे स्वामी अधर्म हो गया । हमारा कुल कलंकित हो गया । हम नष्ट हो गए । अब मैं जीवित कैसे रहूं ?' कहते-कहते वह फूट-फूटकर रोने लगी ।

'भगवान के लिए स्पष्ट कहो । हमारे अतिथि तो कुशल से है ?'

'कुशल कैसी । राजकुमार ने तुम्हें छुड़ाने को स्वयं अपने को पकड़ा दिया । मैं···मैं···' वह फिर फफक-फफक कर रो उठी ।

मानो सहस्त्र विच्छुओं ने दंश किया । श्रेष्ठि ने तड़प कर पूछा—'क्या कहा ? कुमार को पकड़ाकर यह धन प्राप्त किया ?'

'मैं पापिष्ठा हो उस पाप की भागिनी हूं । मैं अपने को दोष-मुक्त नहीं कर सकती ।'

श्रेष्ठि तड़पकर वेग से चीख़ उठे—'क'''क्या'''क्या तुमने कुमार को पकड़ाकर यह धन प्राप्त किया ?'

श्रेष्ठि पत्नी ने रोते-रोते स्वीकार किया—'हां स्वामी, हा स्वामी, हां, हां'''

'और यह पातक तुमने किया ? मेरा जन्म, जीवन, यश, धर्म सभी कुछ नष्ट हो गया। आह कुन्द, बड़ा अनर्थ, बड़ा अधर्म हो गया। यह तुम्हारे जीते जी। नही-नही, तुम्ही ने किया !!'

महानायक ने धीरे-धीरे कक्ष मे प्रवेश करके कहा—'श्रेष्ठिवर, राजकुमार ने स्वय ही स्वेच्छा से यह काम किया है। श्रेष्ठि वधू का इसमे कोई दोष नही है। ये तो अंत तक सहमत नहीं हुई थी।'

यह सुन श्रेष्ठि रो पडे। उन्होंने रोते-रोते कहा—'महानायक, अब क्या होगा ? मैं कैसे इस पातक से छुटकारा पाऊंगा। कैसे मैं अब प्राण देकर कुमार को मुक्त करा सकता हू। हाय ! हाय !' आप जैसे विवेकी वृद्ध के रहते हुए यह कुकर्म हो गया। कुन्द, स्त्रियो से इसीलिए ज्ञानी पुरुष घृणा करते हैं। हा, हा, कुन्द, तुम सब स्त्रियो मे अधम रही। तुमने अपने स्वार्थ मे विवेक खो दिया। पति के स्नेह के लिए पवित्र अतिथि की'''

यह कह वे भूमि पर सिर पकड़कर बैठ गए।

धीरे-धीरे महारानी ने घर मे प्रवेश करके कहा—

'देखिए श्रेष्ठि, हमे तो इस घटना का कुछ भी दुःख नही है। फिर कुमार की इच्छा तो चक्रवर्ती की सेवा मे जाने ही की थी। वह वैसे भी सम्राट की सेवा में जाता। इसके अतिरिक्त वधू किसी तरह अपराध की पात्री नहीं है। जैसे आप धर्मात्मा, विनयी और महान हैं वैसे ही आपकी धर्म पत्नी भी हैं। श्रेष्ठिवर, अब शोक त्याग कर यह उपाय सोचना चाहिए कि आगे हमारा कर्त्तव्य क्या है ?"

श्रेष्ठि उठ बैठे। उन्होंने कहा—'पूज्यवर, आप राह बताइए कि मैं प्राण देकर भी कैसे कुमार को ला सकूगा।'

तीनों व्यक्तियों में सलाह हुई। महानायक बोले—'उत्तम यह होगा, हम सब लोग भी इन सिपाहियों के साथ छद्मवेश में राजधानी को चलें। वहां जैसा कुछ होगा, देखा जाएगा।'

महारानी ने कहा—'ऐसा ही हो।'

श्रेष्ठि कुछ देर चुप रहकर शोक-दग्ध स्वर में कुंद की ओर देखकर बोले। 'कुंद सावधान' हो जाओ। इन पूज्य अतिथियों की साक्षी में हम-तुम भी अब कुछ निर्णय कर लें, जिससे हमारे किए कुकर्म का यत्किंचित निराकरण हो जाय। यह तो तुमने देखा ही है कि यह धन कितने अपमान और अधर्म की जड़ है। आओ, हम मन, वचन और कर्म से इस धन का त्याग करें। मैंने आज से श्रेष्ठिपद त्यागा, मैं दरिद्रराज हुआ। आज से धन मेरे लिए लोष्टवत् हुआ और तुम्हारे लिए भी कुन्द।'

'जैसी आपकी आज्ञा आर्य पुत्र।'

'अच्छा, अब आज से हम धन न छुएंगे।'

'न छुएंगे।'

'और सुनो, यह पति-पत्नी सम्बन्ध भी, जैसा हमारे-तुम्हारे बीच है, दुःख और मोह का मूल है। देखो, इस घटना ने कितने दुख और पाप का प्रदर्शन कराया। आओ, आज हम इस सम्बन्ध का भी विच्छेद करें। कुन्द, आज से हम पति-पत्नी नहीं।'

'जैसी आपकी आज्ञा।'

महारानी बोल उठी—'श्रेष्ठि, यह आप क्या कर रहे हैं?'

'जो कुछ शुभ है, जो कुछ निरापद है, जो कुछ श्रेयस्कर है, तो कुन्द तुम्हारा कल्याण हो। जाओ, जगत में विचरण करो। जन-जन की सेवा से जीवन को धन्य करो। मैं कुमार को छुड़ाकर यह व्रत लूंगा। अब मैं चला कल्याण, कल्याण।'

इतना कहकर श्रेष्ठि उठे। कुन्द वज्राहत-सी हो चीख मारकर पृथ्वी पर गिरकर मूर्छित हो गई। श्रेष्ठि ने उधर देखा भी नहीं, वे अति गम्भीर मुद्रा मे घर से बाहर हुए।

महारानी विकल हो उठी—'यत्न करो, यत्न करो। श्रेष्ठिवधू मूर्छित हो गई। चले गए श्रेष्ठि, पीछे फिरकर भी नहीं देखा। एक पल रुके भी नहीं। चले गए—चले गए—चले गए।'

चार

ग्रीष्म की ज्वलन्त लू और उत्ताप की तनिक भी परवाह न करके युवक सम्राट अशोक ने पर्वत की उपत्यका मे घोडा छोड दिया। आगे-आगे एक हरिण प्राण लेकर भाग रहा था। सम्राट के धनुप पर वाण चढा था। उसे उन्होंने कान तक खीचकर मारा। वाण हरिण के पैरों मे लगा। वह प्राण-संकट को समझकर गर्म-गर्म रुधिर-विन्दु टपकाता आहत होकर उपत्यका के एक पार्श्व में भागकर छिप गया। हरिण को सम्मुख न देखकर सम्राट भी घोड़े से उतर पड़े। वे रक्त-विन्दु के चिह्न देखते-देखते आगे वढ़े।

सम्मुख एक घने अश्वत्थ के वृक्ष के नीचे शीतल छाया मे एक वृद्ध भिक्षु बैठा था। उसकी गोद मे वही हरिण था। वह यत्न से उसके पैर से तीर निकाल कर उसके घाव पर पट्टी बाध रहा था।

सम्राट ने वहा पहुच कर क्रोध मे कहा—'तू कौन है रे पाखण्डी ?'

'तेरा कल्याण हो सम्राट। मैं भिक्षु हू।'

'तो तेरा यह साहस कि मेरे आखेट को हाथ लगाए।'

'यह निर्दोप पशु भयभीत और आहत है। यह मेरी करुणा का पात्र है।'

'किन्तु इस पर मेरा अधिकार है।'

'इस पर तेरा अधिकार कैसे है सम्राट ?'

'यह मेरा आखेट है, मैंने इसे मारा है।'

'मारने वाला तो किसी का स्वामी नही होता, शत्रु होता है सम्राट। तू इतने बडे राज्य का स्वामी होकर भी यह छोटी-सी वात नही जानता ?'

'तू वडा धृप्ट है, यह मेरा आखेट है, छोड़ इसे।'

'यह दीन पशु मेरी करुणा के आश्रित है।'

'मैंने इसे मारा है।'

'मैंने इसकी रक्षा की है। अधिकार मारने वाले का नही, रक्षा करने वाले का होता है। इस दीन निर्दोप पशु ने तेरी कुछ भी हानि नहीं की सम्राट, फिर तूने इसे क्यो मारा ? तू रक्षा करने के लिए सम्राट है, मारने के लिए नही।'

सम्राट ने कुछ रुककर पूछा—'तू इसका क्या करेगा?'

'मैं इसे निरोग करके छोड़ दूंगा। यह फिर उन्मुक्त वायु में छलांगें भरेगा, हरी-हरी घास खाएगा, निर्दोष जीवन बिताएगा।'

'तू धूर्त है। अवश्य इसका मांस खायेगा। तू मेरा आखेट हड़पना चाहता है। छोड़ दे इसे, यह मेरा है।'

भिक्षु ने ममता से पशु की पीठ पर हाथ फेरते हुए उत्तर दिया—'नहीं राजन, यह मेरा है।'

'यह मेरा लक्ष्य है।'

'यह मेरा रक्ष्य है।'

'मैंने इसे बाण-विद्ध किया, क्षत्रिय-धर्म से यह मेरा है।'

'मैंने बाण निकाल घाव पर पट्टी बांधी है। भिक्षु-धर्म से यह मेरा है।'

'यह मेरा आखेट है।'

'नहीं।'

'क्या तेरी ऐसी स्पर्द्धा है? तू बड़ा दुःशील है।'

'मैं तथागत के शील की मर्यादा का पालन करता हूं, क्या तूने तथागत का नाम नहीं सुना?'

'नहीं।'

'और तू तथागत के शील को भी नहीं जानता?'

'नहीं, क्या है तथागत का शील?'

'मारने से बचाना श्रेष्ठ है। वह भूत-दया से प्रेरित क्रिया है। उसमें अनुकम्पा की सम्पदा का समावेश है। यदि यह पशु बोल सकता?'

'तो क्या होता?'

'यह तुझे धिक्कार देता।'

'क्या मुझ सम्राट को?'

'सबसे अधिक। क्योंकि सम्राट से तो वह अन्य मारने वालों से रक्षा पाने का अधिकार रखता है। जो व्यक्ति एक कीड़ा भी नहीं बना सकता, वह इतने बड़े पशु को कैसे मारता है। इसका उसे अधिकार क्या है?'

'यह पशु तुझे क्या समझता है?'

'तू इतना बड़ा सम्राट होकर भी देखता नहीं? वह मेरी गोद में निश्चिन्त

है। आश्वस्त है। सम्राट, तू इस निरीह पशु की भांति यदि अपनी प्रजा को अपने राज्य में निश्चिन्त और आश्वस्त देखना चाहता है—तो मेरी ही तरह अपनी प्रजा को अपने आश्रय में निश्चिन्त और आश्वस्त कर।'

'तू अन्यों से कैसा व्यवहार करता है?"

'तू हमारा कार्य और आदर्श देखना चाहता है तो मेरे साथ आ, और हमारे और अपने कार्यों और आदर्शों की तुलना कर।'

'तू मुझे कहां ले जाना चाहता है?'

'उन वृक्षों के झुरमुट में, पुष्करिणी के तीर पर, वहीं हमारा विहार है।'

'तेरी वाणी अर्थ-गम्भीर है, मुद्रा अभय है, चित्त दृढ़ है, दृष्टि प्रसन्न है। मैं तुझे देखकर प्रभावित हूं। चल, देखूं तेरा विहार।'

'स्वस्ति सम्राट, आ मेरे साथ और देख स्वार्थ की मरुभूमि में कैसे करुणा की अजस्र मन्दाकिनी बहती है। क्रूर जीवन में कैसे दया जीवन का संचार करती है।'

दोनों चल दिए। हरिण शिशु की तरह वृद्ध की गोद में सो गया।

सम्राट ने कहा—'तू वृद्ध है, हरिण के भार से तू क्लांत है, वह भार मुझे दे। मैं अपना आखेट का अधिकार छोड़ता हूं। तेरा हरिण मैं लेकर चलता हूं।'

सम्राट का स्पर्श पाते ही हरिण छटपटाने लगा और उसकी गोद से गिर पड़ा।

भिक्षु ने हरिण को उठा छाती से लगाकर कहा—'देखा तूने सम्राट, वह तेरे गौरव और महान सामर्थ्य का तिरस्कार करके तुझसे घृणा करता है। सम्राट, घृणा से घृणा नहीं जीती जाती। प्रेम से घृणा जीती जाती है। तू देख रहा है सम्राट।'

'देख रहा हूं और इससे अधिक देखना चाहता हूं।'

'तेरा कल्याण हो सम्राट, आ मेरे साथ।'

सम्राट का गर्व भंग हुआ। वह सोचते जा रहे थे—मैं समझता था पृथ्वी-भर के राजमुकुट मेरे चरणों में गिरते हैं और सभी मेरी प्रतिष्ठा करते और मुझसे भय खाते हैं। पर यह तुच्छ पशु भी मुझसे घृणा करता है

इस वृद्ध भिक्षु में ऐसा क्या गुण है, जो यह मूक प्राणी भी इस पर विश्वास करता, प्रेम करता और आत्म-समर्पण करता है ? हाय मैं इतना अधम हूं। एक बार उन्होंने रक्त और धूल से भरे अपने वस्त्रों को देखा। एक गम्भीर श्वांस ली और नीचा सिर किए साधू के पीछे-पीछे चलते रहे।

पांच

वन-प्रदेश की उस पहाड़ी घाटी के बीच एक सुंदर घने कुंज में मोग्गलिपुत्र तिष्य का विहार था, जहां एक क्षीण कलेवरा नदी बहती थी। वहां पूर्ण शांति और आनंद का राज्य था। उत्तप्त सूर्य की किरणें उस दुर्भेद्य वृक्ष-राशि को पार नहीं कर सकती थी। उस सघन छाया में बहुत-सी पर्ण-कुटियां बनी थी, जहां भिन्न-भिन्न आयु के वीतराग बौद्ध साधु ज्ञान चर्चा में मग्न थे। कुछ भिक्षु धर्मसूत्र घोखते इधर से उधर आ-जा रहे थे। रोगी और घायल पशु और मनुष्यों की चिकित्सा हो रही थी। सहस्रों पशु-पक्षी निर्भय विचरते किलोल कर रहे थे। वृद्ध के पहुंचते ही दो साधुओं ने दौड़कर वृद्ध का बोझ ले लिया और हरिण के उपचार में लगे। सम्राट विमूढ़ से खड़े यह देख रहे थे। ऐसी शांति और आनन्द उन्होंने अपने जीवन में नहीं देखी थी। एक नई भावना उनके हृदय में उदय हो रही थी, वह कुछ सोच रहे थे। एक नवीन तेज उनके नेत्रों में दीप्त हो रहा था। उन्होंने मन में कहा—अहा, यह तो बड़ा ही मनोरम स्थान है। शान्त वातावरण, पक्षी और पशु मुझ आखेटक को भी देखकर निर्भय विचरण कर रहे हैं। यहां मेरा आप ही आप मन शांत हो गया। जी चाहता है कि राज्य-प्रपंच को छोड़कर उस सघन छाया में बनी एक पर्णकुटी में आकर चुपचाप बैठ जाऊं। सहसा एक प्रचण्ड जयघोष हुआ—'जय, महामोग्गलिपुत्र भगवान तिष्य की जय।'

सम्राट ने दृष्टि उठा कर देखा—'सम्मुख एक तेज-मूर्ति चली आ रही है। प्रशांत मुख-मण्डल, गम्भीर गति, महान व्यक्तित्व। सम्राट ने सोचा, क्या यही महाप्राण भगवान मोग्गलिपुत्र तिष्य है, जिनके विषय में सुना गया है कि उनके दर्शन होना दुर्लभ है, और जिसे एक बार उनके दर्शन हो जाते है, वह धन्य समझा जाता है, उसका कल्याण हो जाता है। सम्राट एकटक उस महान शरीर को देखते रहे।'

तिष्य ने दोनो हाथ उठाकर कहा—'चक्रवर्ती सम्राट तेरी जय हो। इस विहार मे मैं तेरा स्वागत करता हू।'

सम्राट ने पूछा—'तब क्या मैं साक्षात् भगवान मोग्गलिपुत्र तिष्य के दर्शनों का लाभ ले रहा हूं?'

'हा, सम्राट मैं ही तिष्य हू, कह तेरा क्या प्रिय करूं?'

एक अतर्क्य शक्ति के प्रभाव से सम्राट ने उनके चरणो मे सिर झुका दिया—'भगवन्, अभिवादन करता हूं।'

'कल्याण। कल्याण।'

सब भिक्षु एकत्र होकर प्रचण्ड जयघोष करने लगे—'भगवान् मोग्गलिपुत्र तिष्य की जय हो।'

सम्राट बोले—'भगवन्, आपके दुर्लभ दर्शन पाकर आज मैं कृतार्थ हुआ। मेरी अविनय को आप क्षमा करें। साम्राज्य के प्रचण्ड सम्मान और परिच्छेद में मुझे ऐसी शान्ति नही मिली, जिसे आज इस क्षण प्राप्त कर रहा हूं।'

तिष्य ने पूछा—'उस हरिण के विषय मे अब तू क्या सोचता है सम्राट, उस पर क्या अब भी तेरा अधिकार है?'

'नही प्रभु, आपका अधिकार है?'

'तो तू मानता है कि वध करने से रक्षा करना श्रेष्ठ है?'

'ऐसा ही मैं मानता हूं प्रभु।'

'तो सम्राट, तुमने कलिंग में एक लाख मनुष्यों का वध किया है। मनुष्य तो सब प्राणियों मे श्रेष्ठ है, राजा का निर्माण मनुष्य को अभय दान देने के लिए है।'

'भगवन्, पाप हुआ है। कलिंगपति महाराज मृगेन्द्र युद्ध क्षेत्र मे नही

लौटे। उनका युद्ध क्षेत्र में वध हुआ या उन्होंने कहीं पलायन किया—इसका किसी को पता नहीं लगा। कलिंग राजकुमार कहीं अन्तर्ध्यान हो गए। मैंने सर्वत्र ढिंढोरा पिटवा दिया था कि जो कोई कलिंग-राजपरिवार को आश्रय देगे, उनका वध कर दिया जायगा। उनको जीवित या मृत पकड़कर लाने वाले को दस सहस्र स्वर्णमुद्रा पारितोषिक देने की घोषणा भी की गई थी, कलिंग राज परिवार के इस नरवध पराभव से अब मैं संतप्त हूं। मेरे मन में प्रबल आत्मग्लानि उदय हुई है। आप मेरा उद्धार कीजिए। मैं आपकी शरण हूं।'

'सम्राट, धर्म में तेरी रुचि हुई। यह शुभ लक्षण है। सुन, शक्ति और अधिकार द्वारा अधीनों को वश में करने की अपेक्षा प्रेम और दया से प्राणी को जीतना श्रेयस्कर है।'

'मानता हूं भगवन।'

'शरीर को अधीन करने की अपेक्षा आत्मा को वशीभूत करना श्रेयस्कर है।'

'मानता हूं भगवन।'

'तो तू पृथ्वी का चक्रवर्ती सम्राट है। शस्त्र से नहीं, सेना से नहीं, दया से, प्रेम से पृथ्वी की आत्मा को जय कर। इससे तेरा अक्षय साम्राज्य विश्व-व्यापी होगा। तेरी कीर्ति अमर होगी।'

'मानता हूं भगवन।'

तो सुन, क्षमा तेरा शस्त्र, दया तेरी नीति, और त्याग तेरा शासन होगा।

'मानता हूं भगवन्।'

'तो सम्राट, प्रथम कलिंग के दोष का परिहार कर।'

'भगवन्, आदेश दें, राह दिखाए।'

तिष्य बोले—'भिक्षुओ, यह चक्रवर्ती चण्डाशोक यहां उपस्थित है। इसे निर्मल विरज ज्ञान-चक्षु उत्पन्न हुआ है। आज से यह 'प्रियदर्शी देवाना प्रिय' संसार में विख्यात हुआ।'

तिष्य का यह वचन सुनते ही वहां उपस्थित जनों ने सम्मिलित स्वर में जयघोष किया—

जय, प्रियदर्शी-देवाना प्रिय चक्रवर्ती अशोक की जय।
प्रियदर्शी देवानां प्रिय चक्रवर्ती अशोक की जय ॥
प्रियदर्शी देवानां प्रिय चक्रवर्ती अशोक की जय ॥
सम्राट ने घुटने टेक कर कहा—'भगवन्, मैं अंजलिबद्ध श्रावक हूं।'
तिष्य बोले—'बैठ सम्राट। यह दुःख उत्तम सत्य है। जन्म दुख है, नाश दुःख है, रोग दुःख है, मृत्यु दुःख है, जिन वस्तुओं से हम घृणा करते हैं, उनका न मिलना दुःख है।'

'समझ गया भगवन्।'

'दुःख के कारण का उत्तम सत्य है लालसा। लालसा पुनर्जन्म का कारण होती है, जिसमें कि सुख और लालच होते हैं और जो इधर-उधर भटकाती है। यह लालसा तीन प्रकार की होती है। एक सुख की लालसा, दूसरी जीवन की लालसा, तीसरी फलने-फूलने की लालसा।'

'समझ गया भगवन् !'

'तो सम्राट, दुख के दूर होने का उत्तम सत्य यह है कि वह लालसा के पूर्ण निरोध से समाप्त होता है। यह निरोध किसी कामना की अनुपस्थिति से, लालसा को छोड़ देने से, लालसा के बिना कार्य चलाने से, उससे मुक्ति पाने से और कामना का नाश करने से होता है।'

'समझ गया भगवन्।'

यह उस मार्ग का उत्तम सत्य है, जिससे कि दुःख दूर होता है। वह पवित्र आठ प्रकार का मार्ग यह है—

सत्य विश्वास
सत्य कामना
सत्य वाक्य
सत्य व्यवहार
सत्य जीवन—निर्वाह का मार्ग
सत्य उद्योग
सत्य विचार
सत्य ध्यान
'समझ गया भगवन।'

'तो सम्राट, जीवन दुःख है। जीवन और उसके सुखो की लालसा दुःख का कारण है। इस लालसा के मर जाने से दुःख का अन्त हो जाता है और पवित्र जीवन से यह लालसा मर जाती है। पवित्र जीवन की यही आठ निधियां है।'

'समझ गया भगवन्। समझ गया। कलिंग के पातक से मेरी मुक्ति हो, अब आप वैसा उपाय बताइए। कलिंग-वासियों के दुःख देख मेरा हृदय द्रवित है। वैसे मैं उस पाप का निराकरण कर सकता हूं?'

'प्रियदर्शी सम्राट, उस कुटी मे एक तरुण भिक्षु है। वह मथुरा का श्रेष्ठि उपगुप्त है। अपने सद्‌गुणो से वह अल्पकाल ही में श्रेष्ठ गुणों से सपन्न हो गया है। तू उसी के शरणापन्न रह। आ, मैं उनसे परिचय कराऊं। जो परम वीतराग, महान धर्मात्मा और एकनिष्ठ महापुरुष है, जिनकी आत्मा में महान् बुद्ध का निवास है। वह तुझे कल्याण का मार्ग बताएगा और तुझे सुमति की दीक्षा देगा। उसके वचन का अनुसरण करके तू पृथ्वी पर और स्वर्ग मे अक्षय कीर्ति प्राप्त करेगा। उससे तुझे गुरुवत व्यवहार करना होगा।

आचार्य तिष्य इतना कहकर पीछे को मुड़ कर चल दिए। एक घने कुंज में छोटी-सी कुटिया के द्वार पर जाकर उन्होंने पुकारा—'आचार्य उपगुप्त। सम्राट आपकी सेवा में उपस्थित है।'

आचार्य उपगुप्त—वही श्रेष्ठिराज—उपगुप्त—पीत परिधान धारण किए मुण्डित सिर, विनम्रमुख कुटी से बाहर आए। सम्राट अशोक ने पृथ्वी पर गिर कर उन्हे प्रणाम किया और कहा—'आचार्य। मुझे सद्‌मार्ग बताइए।'

आचार्य उपगुप्त की मुद्रा भंग नही हुई, न उन्होंने दृष्टि उठाई। उनके नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित हुई।

आचार्य तिष्य ने कहा—'आचार्य, सम्राट आपके तत्त्वावधान मे पृथ्वी पर धर्म-विस्तार करेंगे। आप ही सम्राट को धर्म बताने के योग्य हैं, आप सम्राट का प्रणाम ग्रहण कीजिए।'

आचार्य उपगुप्त ने अवरुद्ध कण्ठ से कहा—'देवाना प्रिय सम्राट की जय हो। परन्तु आचार्य, सम्राट का भार मुझ पर न डालें। आचार्य तिष्य के रहते और कौन सम्राट को सद्‌मार्ग बताएगा?'

तिष्य ने कहा—'आचार्य, आत्मा पर सदैव अज्ञान का आवरण रहता

है और इस आवरण का भेदन करने के लिए एक रहस्यविद की आवश्यकता है। आप ही यह रहस्यविद हैं। आचार्य, अपने शिष्य का कल्याण-चिन्तन कीजिए, मेरा कार्य समाप्त हुआ।'

यह कहकर तिष्य अन्तर्ध्यान हुए। सम्राट और उपगुप्त क्षणभर विमूढ़ रहे। अब आचार्य उपगुप्त ने नेत्र उठा कर कहा—'चक्रवर्ती, भीतर कुटी में पधार कर कृतार्थ करें।'

दोनों महान् आत्माए कुटी मे प्रविष्ट हुई।

छह

आचार्य उपगुप्त आसन पर बैठे। सामने सम्राट भी श्रद्धाजलि बैठ गये।

उपगुप्त ने कहा—'सम्राट मैं अब कृषक हू। मेरे पास श्रद्धा का बीज है। उस पर तपश्चर्या की वृष्टि होती है। प्रज्ञा मेरा हल है। ह्री की हरिस, मन की जोत और स्मृति के फाल से मैं अपने खेत (जीवन क्षेत्र) जोतता हू। सत्य मेरा खुरपा है, उत्साह मेरा बैल है, और योगक्षेम मेरा अधिवाहन है। मैं नित्य अपना हल निर्वाण की ओर चलाता हूं। इस प्रकार अब मैं अमृत की खेती करता हू। अमृत की सम्पदा से सम्पन्न होकर अब मैं सब दुःखों से मुक्त आनदित हूं।'

पहले मैं श्रेष्ठि था। तब तृष्णा और भोग-लिप्सा के पीछे दौड़ता था। जैसे वन मे वन्दर दौडता है। यह दुर्जय तृष्णा जिसे जकड़ लेती है, उसके शोक वीरन घास की भांति बढ़ते ही जाते हैं। इस दुर्जय तृष्णा को जो जीत लेता है उसके शोक इस प्रकार झड़ जाते हैं। जिस प्रकार कमल के पत्ते पर से जल बिन्दु। जैसे जड न कटने पर भी वृक्ष कटकर भी फिर उग आता है, उसी प्रकार जब तक तृष्णा कटती नही, दुःख होता ही रहता है। सो सम्राट तू जहां इस तृष्णा-लता को जड़ पकड़ते देखे, उसे वही प्रज्ञा की

कुल्हाड़ी से काट डाल और सत्य अहिंसा पर अचल रह।'

'सत्य क्या है आचार्य?'

'जो मन मे हो वही वचन मे, जो वचन में हो वही कर्म में हो—यही सत्य है। सम्राट, बैरी जितनी हानि करता है, असत्य का अनुगमन करने वाला मन उससे अधिक हानि पहुचाता है। इससे असत्य का सर्वथा परित्याग करना चाहिए।'

'मैंने यह व्रत लिया। मैं कभी हास-उपहास में भी असत्य भाषण नहीं करूगा। अब आप अहिंसा की व्याख्या कीजिए।'

'जैसा मैं हूं, वैसे ही वे हैं। और जैसे वे हैं, वैसा ही मैं हूं। इस भावना को सर्वात्मैक्य कहते है। यही समझकर न किसी की हत्या करे, न हत्या की प्रेरणा करे। अपनी प्राण रक्षा के लिए भी किसी की हत्या न करे।'

'मैंने आज ही से अहिंसा-व्रत लिया।'

'मनुष्य यह विचार करता है कि मुझे जीने की इच्छा है, मरने की नही, सुख की इच्छा है, दु.ख की नही। दूसरों की भी ऐसी ही इच्छाएं है। इसलिए स्वयं हिंसा से विरत रहकर दूसरों को भी उससे विरत रखना चाहिए। बैरियो के प्रति बैर रहित होकर ही मनुष्य आनन्दित हो सकता है। सम्राट, तथागत ने कहा है— पहले ससार मे तीन रोग थे—हिंसा से बढ़कर वे अट्ठानवें हो गए।'

'मैं जान गया, हिंसा सब पापो का मूल है।'

'मैत्री भावना सब प्राणियो के प्रति, जैसे माता का स्नेह पुत्र के लिए होता है, वैसे ही रहनी चाहिए। शात पद के जिज्ञासु को सहनशील, सरला-तिसरल, मृदुभाषी, मृदु और निरहंकारी रहना चाहिए। सब प्राणियों के प्रति हमें असबाध, अवैर और नि:स्वार्थ मैत्री की असीम भावना रखनी चाहिए।

'ग्रहण करता हू।'

'सम्राट, तू क्या जूठन से घृणा करता है? दुर्गन्ध से घृणा करता है? मक्खियो से घृणा करता है?'

'करता हू, आचार्य।'

'तो राजन, लोभ और राग जूठन है, द्रोह दुर्गन्ध है, बुरे विचार

'मक्खियां हैं।'

'लोभ-तृष्णा जगत का सयोजन है, वितर्क उसकी विचारणा है। तृष्णा-नाश से निर्वाण मिलता है। राजन, यह जगत अविद्या से आच्छन्न है। प्रमाद के कारण वह प्रकाशित नहीं है। वासना इसका अभिलेपन है। इनमें जन्म-मरण महादुःख हैं। प्रज्ञा से उनका निवारण होता है। हे राजन, यह मैंने तथागत के धर्म का सार कहा है।'

'अभिनन्दित हुआ आचार्य, सुपूजित हुआ आचार्य। अब मुझे कलिंग के पाप की मुक्ति का मार्ग मिला, तथापि आप आदेश दें तो ठीक है।'

'सम्राट, राजधानी लौट जा। कलिंग का राजकुमार बंदी होकर राजधानी में पहुंच गया है। उसके साथ सुविचार कर। इसी में सब दोषों का निराकरण हो जायेगा।'

'क्या आचार्य कुछ आदेश देंगे ?'

'अभी नहीं, यथा समय।'

'तो मैं अभिवादन करता हूं।'

'कल्याण हो सम्राट, धर्म में तेरी मति रहे।'

सात

संध्या का समय था। सम्राट राजोद्यान में धीरे-धीरे गंभीर मुखमुद्रा किए टहल रहे थे। समस्त भारत के चक्रवर्ती सम्राट के सम्मुख ऐसी गहन समस्या न आई थी। उनका चिंतनीय विषय था कलिंगराज का दुर्धर्ष अपघात। वे सोच रहे थे, मैंने एक हरे-भरे सुखी राज्य का अकारण विध्वंस किया। कलिंगराज न जाने कहां कैसे मारे गए। उनके युवराज बंदी होकर आए हैं। उनका परिवार न जाने किस दुर्दशा में है।

अहा, आचार्य उपगुप्त ने मुझे ज्ञान-चक्षु दिया है। अब मैं कैसे

पातक से उऋण होऊंगा। इस दुष्कर्म का क्या प्रतिशोध किया जायगा। आचार्य ने कहा था—राजकुमार ही वह मार्ग बतायेंगे, परन्तु मैं कैसे उन्हें मुह दिखाऊंगा। अच्छा, राजकुमार को मैं आप ही आत्म-समर्पण कर दूगा। जो हो, सो हो।

सम्राट कुछ उद्विग्न होकर फिर विचारमग्न हो टहलने लगे। उन्होंने कहा—'अब उनके आने में विलम्ब क्यों हो रहा है।'

हठात् एक दडधर ने प्रवेश कर अभिनन्दन करके कहा—'देवानाप्रिय प्रियदर्शी चक्रवर्ती सम्राट की जय हो। महानायक कलिंग राजकुमार को लेकर द्वार पर उपस्थित है।'

उसने तीन बार दड का पृथ्वी पर शब्द किया।

सम्राट ने उत्फुल्ल होकर कहा—'उन्हे अभी यहां ले आओ।'

क्षण-भर ही मे कलिंग राजकुमार को लेकर महानायक ने सम्राट का अभिवादन करके कहा—'चक्रवर्ती की जय हो। पृथ्वीनाथ कलिंग का राजकुमार चक्रवर्ती की सेवा मे यहा उपस्थित है। राजकुमार, देवनाप्रिय प्रियदर्शी चक्रवर्ती का अभिवादन करो।'

कुमार ने हंसकर कहा—'धन्यवाद महानायक! अभिवादन के लिए आपकी आज्ञा की आवश्यकता नही है। आपके सौजन्य के लिए—जो मार्ग मे आपने मुझ पर किया—मैं आभारी हूं। अब चक्रवर्ती के प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिए, यह मै स्वय सोच-समझ लूगा, आप सम्राट की आज्ञा लेकर जा सकते है।'

महानायक ने विमूढ होकर राजकुमार के इस प्रगल्भ भाषण को सुना। वह खडा रह गया। सम्राट भी चकित हुए। उन्होने दृष्टि गाड़कर राजकुमार की मुख-मुद्रा देखी।

कुमार ने कटाक्षपात करके मुख नीचा कर लिया और कहा, 'सम्राट महानायक को आज्ञा प्रदान करें तो मैं सम्राट का अभिवादन करू।'

सम्राट ने महानायक को जाने का संकेत किया और कुमार के निकट आकर कहा—'कलिंगराजकुमार, अभिवादन की आवश्यकता नहीं है। मैंने तुम्हारे राज्य और परिवार के साथ बडा अन्याय और अत्याचार किया है। मैंने तुम्हे इसलिए बुलाया है कि अब मैं तुम्हे बिना विकल्प आत्म-

समर्पण कर दूं।'

कुमार बोले—'चक्रवर्ती की जय हो। राजा राजाओं मे युद्ध करते हैं। जय-विजय किसी एक पक्ष की होती ही है। परन्तु चक्रवर्ती को विजित शत्रु के बदी राजपुत्र के प्रति इतना शिष्टाचार प्रदर्शन करने की आवश्यकता नही है।'

'नही, राजपुत्र, मैंने अकारण ही उस समृद्ध राज्य को नष्ट किया और अब अकारण ही कुमार तुम्हारे प्रति मेरे हृदय मे अपूर्व प्रेम उमड़ रहा है। मैं तुमसे अनुरोध करता हूं कि मुझे शत्रु न समझो। मेरा हृदय बदल गया है। अब तुम्हारे पूज्य पिता का पता लगाना कठिन है। अब तुम्हीं कलिंग के सिंहासन को प्रतिष्ठित करो। लाओ, अपना हाथ दो प्रिय राजकुमार।'

'चक्रवर्ती को शत्रु-पुत्र का इतना सत्कार करना उचित नहीं है।'

'आह, शत्रुपुत्र नहीं, मित्र, प्रिय बधु। प्रिय राजकुमार, तुम्हारे पिता का राज्य तो मैं तुम्हे लौटाता ही हू, इसके अतिरिक्त और भी जो मागो, मैं दूगा।'

'क्या सचमुच चक्रवर्ती प्रतिज्ञा करते है?'

'यह मेरा वचन है राजपुत्र, चक्रवर्ती अशोक का वचन। माग लो जो चाहो।'

'सम्राट, मुझे मेरी मागी वस्तु देंगे?'

'क्यो नही प्रियदर्शन, तुम्हारे लिए मेरे पास अदेय कुछ नहीं है। भले ही वह सिंहासन ही क्यों न हो।'

राजकुमार ने हंसकर पूछा—'केवल सिंहासन? बस?'

'नहीं-नहीं, प्यारे राजकुमार, ये प्राण भी, यह शरीर भी, तुम्हारा है। आह, तुम्हारी चितवन कितनी प्यारी है। मृदु हास्य कितना मोहक है। लाओ, अपना हाथ मुझे दो।'

'तो आज से चक्रवर्ती के प्राण और शरीर मेरे हुए।'

'भारत का यह अखण्ड साम्राज्य सिंहासन भी।'

'सम्राट फिर विचार कर लें। फिर यह तुच्छ हाथ उपस्थित है।'

'ओह, इस महामूल्यवान हाथ के लिए सिंहासन क्या, प्राण क्या, जीवन क्या? प्रिय राजकुमार, लाओ अपना हाथ।'

'देवानाप्रिय प्रियदर्शी सम्राट प्रसन्न हों ! यह अकिंचन हाथ सम्राट की सेवा मे उपस्थित है। अब इसकी लाज आपके हाथ है।'

'इसका मूल्य मेरे प्राण, शरीर और सिंहासन से भी अधिक है। आगे बढो और अपना हाथ मुझे दो।'

'यह मेरा हाथ है सम्राट।'

सम्राट उसे पकडने के लिए आगे बढ़े, तभी उन्होंने देखा कि आचार्य उपगुप्त दो व्यक्तियो के साथ आ रहे हैं। दोनों व्यक्ति दूर खड़े रह गए। आचार्य आगे बढे।

सम्राट ने आगे बढकर आचार्य के चरणों में प्रणाम करके कहा—'आचार्य। कलिंग-राजकुमार जितेन्द्र उपस्थित है। मैंने इन्हें इनका राज्य और युद्ध क्षति दे दी है, अपना शरीर और प्राण भी दिया। ये इनके स्वामी हैं। राजकुमार, आचार्य को प्रणाम करो।'

छद्मवेशी कुमार आगे बढकर आश्चर्यचकित होकर आचार्य उपगुप्त की ओर देखने लगे। आचार्य ने आगे बढकर कुमार के मस्तक पर हाथ धर कर कहा—'कल्याण। कल्याण।'

छद्मवेशी राजकुमार के होंठ फडक कर रह गए। उसके मुख से अस्पष्ट स्वर में निकला—'श्रेष्ठि···व···र।'

आचार्य ने सम्राट के निकट पहुंचकर मधुर मुस्कान के साथ कहा—'चक्रवर्ती ने बडी ही बुद्धिमत्ता से अपना प्राण और शरीर सुपात्र को दिया है। हा, अब आप उस पवित्र हाथ को ग्रहण करिए। आओ, कलिंग राजकुमारी आगे बढो।'

इतना कहकर आचार्य ने सम्राट का हाथ पकड लिया।

सम्राट चकित हुए। वे दो कदम पीछे हट गए। उन्होंने पूछा—'क्या कहा, कलिंग राजकुमारी ?'

आचार्य ने कहा—'हां सम्राट, यह कलिग राजनन्दिनी शैशवाला है। राजकुमारी, तुमने तो स्वयं ही चक्रवर्ती से सौदा तय कर लिया है। अब संकोच क्यो ?'

'यह आप क्या कह रहे हैं आचार्यपाद ?'

'राजकुमारी, अब तुम यह पुरुप का छद्मवेश त्याग दो जिससे सम्राट

का भ्रम दूर हो जाय।'

'यदि ये कलिग-राजनन्दिनी शैशवाला है, तब कलिंग महाराजकुमार, कहां है?' सम्राट ने पूछा।

'कलिंग महाराज महेन्द्रादित्य और महाराज कुमार जिनेन्द्रादित्य श्री सम्राट की सेवा में उपस्थित हैं।'

आचार्य ने अपने साथ आए दोनों व्यक्तियों को पुकार कर कहा—

'आइए कलिंगपति निकट आइए, कलिंग युवराज जिनेन्द्र, आप भी आइए।'

दोनो ने आगे बढ़कर सम्राट को अभिवादन किया।

सम्राट दौड़कर कलिंगराज के पैरों में झुके। कलिंग महाराज महेन्द्र ने उठाकर उन्हें छाती से लगा लिया। दोनों महानृपति तन-मन में एक हो गए। इसके बाद आचार्य ने कुमारी के त्याग और साहस का सारा विवरण कह सुनाया। पिता ने पुत्री को छाती से लगाया और अपने हाथ से सम्राट के हाथों सौंप कर कहा—'सम्राट, यद्यपि आप इसे मेरे देने से पूर्व ही ले चुके, परन्तु फिर भी मेरे हाथ से एक बार ग्रहण कीजिए। लीजिए।'

सम्राट ने आश्चर्य से अभिभूत होकर कहा—'आचार्य, कुकर्म का यह सुफल क्यों?'

'सम्राट, यह सुकर्म का फल है कि दोनों महानृपति तन-मन से एक हो गए। आइए, महाराज कलिंगपति के हाथ से कलिंग राजनन्दिनी का पाणि ग्रहण कीजिए।'

सम्राट का हृदय स्पन्दन क्षण-भर को रुक गया। वे बोले—'जैसी आचार्य की आज्ञा।'

सम्राट नत मस्तक हो आगे बढ़े, कलिंगपति ने राजकुमारी का हाथ उनके हाथ में दे दिया। शंख बजे और बहुत से बाजे बज उठे। स्त्रियों ने सम्मिलित मंगल गान गाया।

आठ

पाटलिपुत्र राजमहालय के अन्तरग राजोद्यान से ग्रीष्मकालीन उज्ज्वल शुक्लपक्ष की एकादशी की रात्रि के प्रथम प्रहर मे सम्राट अशोक और राज-महिषी असन्धिमित्रा एक स्फटिक शिला पर विराजमान थे। सम्राट की मुखमुद्रा गम्भीर थी।

यह देख राजमहिषी बोली—'आर्य पुत्र, स्निग्ध चांदनी है। शीतल-मन्द-सुगन्ध समीर बह रहा है। एकादशी का अपूर्ण उज्ज्वल बिम्ब रुपहली अभ्रों मे क्रीडा कर रहा है। चम्पा की मादक गध उन्मादक सदेश-सा दे रही है। कोई पक्षी बीच-बीच मे बोल उठता है, तो एक अपूर्ण-सा सगीत प्रतीत होता है। मालती फूलों से लदी कैसी मनोरम लग रही है। अब आप भी गम्भीर हैं।'

'हा प्रिये।'

'आम बौर हो रहे हैं, उनकी भीनी सुगन्ध वातावरण मे भरी है, कितनी मादक है वह। कोकिल रह-रहकर कूक उठती है, जिससे हृदय आदोलित हो उठता है। आतरिक आनन्द की एक लहर हृदय को झकझोर डालती है। आप अब भी गभीर हैं?'

'हा प्रिये।'

'तो क्या मैं समझू कि आर्य पुत्र इस धवल ज्योत्स्ना को नही देख रहे, शुभ्र अभ्रों मे आख-मिचौनी करते चद्रबिम्ब को नही देख रहे। विश्व मे फैले इस शात उज्ज्वल श्याम नैशालोक नही देख रहे। मालती, चम्पा, मौलसिरी, रजनीगधा और आम्र-मजरियो के सौरभ की कुछ भी अनुभूति नही ले रहे?'

'हा प्रिये।'

इस पर राजमहिषी हस पडी—'और मैं, आपकी चिरकिंकरी, जो यहा उपस्थित हू, इसे भी आर्यपुत्र नहीं देख रहे। मेरा नाम था शैलबाला, जब मैं कलिंग की राजपुत्री थी, और अब आपने मेरा नाम रखा—असन्धि-मित्रा, राजमहिषी पद देकर। अब मैं भी आर्यपुत्र को नही-नहीं—सम्राट को असधिमित्र कहकर पुकारूं?'

'सम्राट क्यों ?'

मृदु व्यंग्य मे महिषी ने उत्तर दिया—'सम्राट ही तो। आर्य पुत्र आप कहां हैं ? इस स्निग्ध चांदनी में, इस उज्ज्वल नैशालोक मे, इस सौरभ से परिपूर्ण वातावरण मे आप न क्रीड़ारत चद्र-बिम्ब को देखते है न आम्र-मंजरी की मादकता ग्रहण करते हैं न मुझ नगण्या के सान्निध्य को देखते हैं, केवल साम्राज्य ही के चिंतन में मग्न है। तब आप आर्यपुत्र कहा है—सम्राट ही तो हैं।'

'नहीं प्रिये, साम्राज्य-चिंतन नहीं।'

'तब और क्या ?'

'मैं सोच रहा हूं, अपने पूर्ण जीवन की बात। कलिंग के पातक की बात, तुम्ही ने तो कहा था कि तुम्हारे पिता—कलिंग के अधिपति के शरीर रक्षकों में साठ हजार पैदल, दस हजार अश्वारोही, और सात सौ हाथी थे।'

'कहा था आर्य पुत्र।'

'कहां है, आज वह महामहिम नरपति, नरसिंह। कहा है उसकी विशाल वीरवाहिनी, कहां है उदग्रीव कलिंग राष्ट्र। आज वह सब धूलि-धूमरित हो गया। सबल के अनुचित आक्रमण के विरुद्ध धर्मयुद्ध मे एक लाख मनुष्यो की आहुति दी। डेढ़ लाख नर-नारी मनुष्य के नैसर्गिक स्वतंत्रता के अधिकारों से बलात वंचित करके बंदी किये गये।'

'किंतु आर्य पुत्र, अब इन बीती बातो मे क्या ?'

'कलिंग-राज्य अशोक के साम्राज्य की अन्तर-राजनीति मे कंटक रूप था। आंध्र और परिंदा के प्रांत साम्राज्य के अन्तर्भूत थे। परिंदा साम्राज्य के पूर्वी छोर पर था, इसी से कलिंग अन्तर राजनीति में एक शूल था, वह कभी भी चोड-राज्य से मैत्री कर सकता था। इसलिए साम्राज्य की अखण्ड सत्ता अक्षुण्ण रखने को कलिंग-विजय करना आवश्यक था, वही मैंने किया।'

'सम्राट ने साम्राज्य के लिए जो ठीक था, वही किया।'

'साम्राज्य के लिए ? ठीक है। साम्राज्य के लाभ के लिए, मनुष्यों के लाभ के लिए नहीं। साम्राज्य मनुष्य से बड़ा है। उसके हित के लिए केवल

एक लाख निरीह प्राणियों के वध का क्या मूल्य । और एक लाख ही क्यों, साम्राज्य की सेना के भी तो इतने ही प्राणी हत हुए । फिर जो लोग बंदी बनाये गए, उनका क्या लेखा-जोखा है ?

'आर्य पुत्र, मैंने सुना था कि पूर्व काल में कभी कलिंग नंदों के मगध साम्राज्य का अंग था। वह आर्य चंद्रगुप्त के राज्यकाल में पृथक राष्ट्र बना । सो आपका यह अभियान कुछ ऐसा अन्यायपूर्ण भी न था ।'

'खूब कहा सम्राज्ञी । सम्राज्ञी होकर अब तुम भी इसी स्वर में बोलोगी । साम्राज्य के स्वर में । परन्तु क्यों साम्राज्य के लिए नरवध हो ?'

'बड़े हित के लिए छोटे हितों का बलिदान करना पड़ता है आर्य पुत्र ।'

'तो साम्राज्य बड़ा हित है ? किसने तुमसे कहा प्रिये ? साम्राज्य का यह लाभ उच्चवर्गीय जनों को होता है और उनके पोषण का भार पिछड़ी जाति के लोगों पर पड़ता है । पर सदैव यही होता है कि पिछड़ी हुई जाति के लोग जब संगठित हो जाते है, तब साम्राज्य पर टूट पड़ते है और भीषण युद्धों के पुरोहित बनकर साम्राज्य के स्वामियों को भीषण युद्ध के मुंह में धकेल देते है । मैं देख रहा हूं कि यहां सम्पत्ति एकत्र हो रही है। पर मनुष्य का ह्रास हो रहा है । सारा साम्राज्य झूठी सजधज में सजा है, पर आन्तरिक दुर्बलता से पतनोन्मुख है ।'

'ओह, बड़ी भयानक बात है ।'

सम्राट ने गहरी सांस लेकर कहा—'साम्राज्य में केवल थोड़े से ही लोग सुख साधनों से सम्पन्न होते जाते है । पर ज्यों-ज्यों उन्हें सुख साधन मिलते जाते हैं, उनकी भोग-तृष्णा बढ़ती जाती है । पर शीघ्र ही उनके आर्थिक स्वार्थ परस्पर टकराने लगते हैं और वे नित नए संघर्ष का रूप पाते जाते है । इसी से साम्राज्य निरन्तर युद्धों पर ही पनपता है प्रिये । नररक्त के अतिरिक्त उसे और कुछ न चाहिए ।'

'परन्तु इसका निराकरण कैसे होगा ?'

तथागत ने कहा है—'सबके हित के लिए, सबके सुख के लिए । परन्तु यह सुकर नहीं है ।'

'सुकर क्यों नहीं है आर्य पुत्र ?'

'भोग तृष्णा ही इसकी सबसे बड़ी बाधा है। भोग-तृष्णा ही सब दुःखो की जड है।'

'आर्यपुत्र, क्या शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति को भोगतृष्णा कहा जाएगा?"

'नही प्रिये, मनुष्य के मन में भोग-वस्तुओं की जो बेहद लालसा बढती है, उसे ही भोगतृष्णा कहते हैं।'

'तो भोग वस्तु की लालसा तो संसार के सभी प्राणियो मे है।'

'मनुष्य मे सबसे अधिक। इसी से वह संसार के सब प्राणियो मे अधिक दुखी है।'

'यह क्यो?'

'स्वाभाविक है। भोग वस्तु की इच्छा करने वाले की यदि इच्छापूर्ति हो जाती है, तो उसके उपभोग का वह आनन्दलाभ कर लेता है। पर यदि उपभोग-वस्तु सुलभ न हो—उपलब्ध न हो—तो उसे बेहद दुःख होता है। इसके लिए वह परिश्रम करता है, संघर्ष करता है, यदि उसे असफलता मिलती है तो वह दुःख और निराशा मे पागल होकर न करने के सब दुस्साहस करता है।'

'और यदि सफल हुआ?'

'तो उसकी रक्षा में व्याकुल रहता है। इन्ही भोग-वस्तुओं के लिए मित्र मित्र से, भाई भाई से, पति पत्नी से, राजा राजाओं से वैर रखते है। शस्त्रों से एक दूसरे पर घातक प्रहार करते है, भयानक युद्ध करते है जहा असंख्य निर्दोष प्राणियो का व्यर्थ ही वध होता है। अन्त मे शक्ति भंग होती है। इसी से साम्राज्य टूटते रहते हैं और वह सब रक्तपात व्यर्थ जाता है।'

'ओह!'

इसी मे तथागत ने कहा—'हे आनन्द, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से पर्येषणा, पर्येषणा से लाभ, लाभ से निश्चय, निश्चय से आसक्ति, आसक्ति से अध्यवसाय, अध्यवसाय से परिग्रह, परिग्रह से आरक्षा और आरक्षा से दण्डादान। शस्त्रदान से कलह-निग्रह-विवाद-पैशुन्य-असत्य आदि पापकर्मों का उदय होता है।

पाटलिपुत्र के अन्तरायण के हाट चतुष्पथ पर प्रातःकाल से ही नागरिक जनों की भीड़-भाड़ बढने लगी। भिन्न-भिन्न वेश-धारी पुरुषों और वाहनो का आवागमन होने लगा। राजघोषक महापात्र ने चतुष्पथ पर पहुंच कर दुन्दुभि पर डंका मारकर कहा—सुनो, सुनो। राजाज्ञा ध्यान से सुनो—देवानाप्रिय प्रियदर्शी राजा धर्माशोक सर्वप्राणियों के हेतु परित्राण, इन्द्रिय विजय, मनःशान्ति एवं सुख के अभिलाषी है।

राजघोषक ने दूसरी बार डंका मारकर कहा—'सुनो-सुनो—सर्वलोक कल्याण से बढकर कोई कार्य नही है। इसी मे हिंसक शस्त्रो के स्थान पर अब प्रियदर्शी राजा ने स्नेह और कल्याण का अमृत पूरित रजत पात्र हाथो मे धारण किया है। उनकी निजी आकाक्षाए, और राजकीय कामनाएं, विश्व-कल्याण और जीव-मंगल की अभिलाषाओं मे परिवर्तित हो गई है। सैनिक 'वीरघोष' अब मंगलकारी धर्मघोष बन गया है। और शस्त्रों की विजय अब धर्म विजय बन गई है। अब देवताओ के प्रिय सब विजयो को मुख्य मानते हैं।'

राजघोषक ने तीसरी बार डंका मारकर कहा—'सुनो, सुनो। देवताओं का प्रिय-प्रियदर्शी राजा सब धर्मों की पूजा और आदर करता है। देवताओं का प्रिय दान और पूजा की अपेक्षा सब धर्मों की सार वृद्धि को महत्त्व देता है, जिसका मूल वाक संयम है।'

राजघोषक ने चौथी बार डंका मारकर कहा, 'सुनो-सुनो। विगत काल में राजागण विहार-यात्रा के लिए निकलते थे, विहार यात्रा में आखेट करते और अनेक मनोविलास करते थे, अब देवताओ के प्रिय-प्रियदर्शी राजा ने 'धर्म यात्रा' प्रचलित की है, जिसमे धर्म विस्तार, धर्म स्नेह और धर्म कामना की वृद्धि हो। धर्म मगल का श्रेय प्राप्त हो, सर्वमंगल धर्म उपलब्ध हो।'

राजघोषक ने पाचवां बार डंका मारकर कहा—'सुनो-सुनो। धर्मदान, धर्म सम्बन्ध और धर्म वितरण से बढकर और कोई दान नहीं है। इसी प्रयोजन के धर्म-स्तम्भ प्रजा के हेतु ऐसे स्थानो पर स्थापित कराये हैं, जहा उपासकगण प्रत्येक उपवास के दिन पहुंचकर उन्हे पढ सकें तथा धर्म के

आचरण को जानें। उन्ही पर आचरण करें। मे प्रजा अनुवर्ततु।'

राजघोपक ने छठी बार डंका मारकर कहा—'सुनो, सुनो। माता-पिता की सेवा, और सर्व प्राणियों के प्रति आदर भाव तथा सत्यवचन गुरुतर धर्म है। इन धर्म गुणों की वृद्धि होनी चाहिए। सब भूताना अछतिच सयंमच ममचेराच मादवच गुरुयतो देवानां।'

राजघोपक ने सातवी बार डका मारकर कहा—'सुनो, सुनो। पुत्र जन्म, विवाह विदेशगमन के अवसरो पर लोग बहुत से मंगल करते रहते हैं। माताए और पत्नियां, विविध छोटे और सारहीन मंगल-कार्य किया करती है। मगल-कार्य अवश्य करने चाहिए, पर ये मंगल बहुत कम फलदायक है। धर्म मगल निश्चय अति फलदायक है। यह धर्म मंगल मे सुश्रूषा, सद्-व्यवहार, संयम और दान ही मुख्य है। यह धर्म मंगल स्तुत्य है, जब तक अर्थपूर्ति नही, धर्म मगल करना स्तुत्य है। परत्र च अनन्तं पुण प्रसवति, तेन धर्म मगलेन स्वगत आलधि।'

राजघोपक ने आठवी बार डंका पीटकर कहा—'सुनो, सुनो। मनुष्य अपने सुकृत देखता है, पर अपने आसीनव पर विचार नही करता। उग्रता, क्रोध, अहंकार, ईर्ष्या ये सब आसीनव गामिनी हैं, इनके द्वारा मनुष्य को अपनी अपकृति न करनी चाहिए।'

राजघोपक ने नवी बार डका पीटकर कहा—'सुनो, सुनो। कोई जनपद ऐसा नही, जहा किसी न किसी धर्म के लोग न रहते हो, इसलिए देवताओ का प्रिय राजा चाहता है कि सर्वत्र ही सर्वधर्म वाले बसें। क्योंकि 'सत्रेहि ते ममय भाव शुद्धि च इच्छन्ति'।'

राजघोपक ने दसवी बार डका पीटकर कहा—'सुनो, सुनो। सयम सहिष्णुता, बहुश्रुतत्व, सार, धर्ममगल, धर्मदान और पराक्रम, धर्मविजय-धर्मघोप-धर्मकामना और धर्मयश मनुष्य-जीवन का चिरघोप है तथा प्रियदर्शी जो पराक्रम करता है सब परलोक के लिए, तथा सर्वहित के लिए।'

राजघोप से ग्यारहवी बार डका पीटकर कहा—'सुनो, सुनो। किसी की निन्दा मत करो, सबकी सार वृद्धि हो, ऐसा उपक्रम करो।'

उक्त ग्यारहों राजघोपणाएं समाप्त होने पर राजघोपक बार-बार डका पीटने लगा। उपस्थित भीड़ प्रियदर्शी राजा का जय-जयकार करने लगी।

दस

एक दिन संध्या समय पाटलिपुत्र राजप्रासाद के मन्त्रणा कक्ष मे सम्राट अपने महामात्य राधागुप्त से धर्म प्रसार सम्बन्धी परामर्श करने बैठे।

राधागुप्त ने कहा—'देवताओं के प्रिय के धर्म का सर्वत्र अनुसरण हो रहा है। उन राज्यो अथवा देशो के लोग भी, जहा देवताओ के प्रिय के दूत नही जा सकते, देवताओं के प्रिय का धर्माचरण सुनकर, धर्म पर आचरण करते हैं और करेंगे।'

यह सुन सम्राट बोले—'राधागुप्त, यह धर्म विजय सर्वत्र प्रेम को देने वाली है। धर्म विजय ही मे स्नेह प्राप्त होता है।'

महामात्य ने पूछा—'अविजित सीमान्त प्रदेश यह पूछें कि सम्राट की हमारे प्रति क्या इच्छा है?'

सम्राट ने उत्तर दिया—'वे समझे कि वे देवताओं के प्रिय के कोप से स्वतन्त्र रहें। देवताओं के प्रिय का विश्वास करें, वे समझ लें कि जो क्षमा के योग्य है, उसे देवताओ का प्रिय क्षमा करेगा। उसकी अभिलापा उन्हे धर्माचरण पर लाने की है। जिससे वे इस लोक और परलोक मे सुख को प्राप्त हों।'

'तो प्रियदर्शी महाराज जानें कि इन सीमान्त राज्यों मे पशुओं और मनुष्यो के लिए चिकित्सालय स्थापित हो गए हैं और अन्य धर्म-हित और धर्म से आनन्द लेने वाले उपकरणों का नियमन करवाया गया है।'

'साधु, राधागुप्त साधु।'

'अपरन्त' वालों ने सम्राट की सुनीति और बल से प्रभावित होकर धर्माचरण किया है और प्रियदर्शी की विश्व-मैत्री एवं तादात्म्यता मे प्रभावित होकर सद्धर्म ग्रहण किया है।

राधागुप्त, उन्हे बारम्बार कहो कि देवताओं का प्रिय सीमान्त के वैदेशिक राज्यों की कल्याण-कामना का अभिलाषी है। 'अनारंभो प्राणानां और अहिंसा-सर्वभूतानां।'

देवताओ के प्रिय प्रियदर्शी महाराज की आज्ञा से धर्म-महामात्य मात्र और अन्य प्रमुख कर्मचारी राजधानी और बाह्य नगरो मे धर्म-कार्य के लिए

नियुक्त अपना कार्य कर रहे हैं।'

'जिस प्रकार मैं अपने बच्चों के लिए सुख का अभिलाषी हूं, उसी प्रकार प्रजा का हित और सुख इहलोक और परलोक मे चाहता हूं। सब मुनिसामि वजा।'

'धर्म महामात्य अवरोधो मे, राजनगरी मे, राजपरिवार मे, सर्वत्र नियुक्त है।'

'तो उन्हे मेरा अनुशासन कहो कि रानियो ने—राजवर्गी स्त्रियो ने—जो कुछ भी दान किया हो, चाहे आम्र-कुज चाहे धर्मशाला, चाहे और कुछ, उन सबकी गणना उन्ही के नाम मे की जाय।'

'जैसी आज्ञा।'

'राधागुप्त, त्याग ही जीवन का शृगार है, पवित्र जीवन ही सुखो का सार है। कामना का त्याग ही पवित्र जीवन है।'

दूर कोई गा रहा था—

'मैंने यत्न मे जाना सुखो का सार।
कामना के त्याग से ही मुक्त होता भार।
पाप-मल-अभिमान आस्रव अशुचि मानस रोग।
मुक्त मन ही भोगता निर्द्वन्द्व सुख का भोग।
सूर्य है सतप्त नभ मे,
किन्तु मनुज सतप्त स्वय मैं।'

ग्यारह

पाटलिपुत्र के राजपथ पर कृशकाय, गलित-दन्त, गलित केश, मूर्द्धा पर सफेद चोटी रखे, कण्ठ मे जनेऊ डाले, कमर मे पीताम्बर पहिने साठ वर्षीय श्रोत्रिय सोमलायन चले जा रहे थे। सूर्य अपराह्न हो गया था, परन्तु घाम

अभी वैसी असह्य थी। उन्होंने स्वयं से ही कहा—

'कैसा कठिन काल उपस्थित है। श्रोत्रिय वेदपाठी ब्राह्मण को नगर-हाट में कोई प्रणाम तक नहीं करता।'

सम्मुख ही एक मोटे ठिगने से आदमी, प्रसन्न वदन, कौशेय मे शरीर ढांके स्वर्ण के आभूषण और मूल्यवान उष्णीय वहने श्रावक घनदास आ रहे थे।

उन्होंने श्रोत्रिय को देखकर कहा—'अहा, श्रोत्रिय सोमलायन है। प्रणाम करता हूं।'

'स्वस्ति, स्वस्ति गृहपति। परन्तु आज मैं बहुत व्यस्त हू।'

श्रावक ने भी हंसकर कहा—'अच्छा, कही भोजन का निमत्रण है क्या? याग-यज्ञ तो अब कही होते नही। पर दक्षिणा तो मिलती है।'

'कहां? देवों का प्रिय दान और पूजा को इतना महत्त्व नही देता। वह पाखंडियो की सार वृद्धि चाहता है।'

'सार वृद्धि के भी तो अनेक प्रकार है।'

'परन्तु भाई, वैदिक संस्कृति का तो आधार यज्ञ-याग है। देवताओ के प्रिय ने उसका तो प्रथम ही निषेध कर दिया है। यज्ञ-यागों के प्रति लोगो का अनादर बढता जा रहा है। इससे उनकी प्रवृत्ति विहार और स्तूप बनाने में ही हो गई है।'

'इसमे क्या? श्रोत्रिय ब्राह्मण भी उनमें आ गए।'

यह सुन श्रोत्रिय को क्रोध आ गया। बोले—'क्या ब्राह्मण शूद्र के साथ स्वर्गवास करेगा?'

श्रावक ने हंसते हुए उत्तर दिया—'बिना यजमान के अकेला ब्राह्मण स्वर्ग जाएगा तो दक्षिणा कहा से पायगा। फिर स्वर्गवास तो मरने पर होगा। ब्राह्मण यदि सिर मुडा कर काषाय धारण करे तो विहार में आनंद करे। सच जानो मित्र, यह सदेह स्वर्ग मे पहुचना है।'

'ब्राह्मण पाखंडियों के साथ कैसे रहेगा भाई।'

'भूखों मरने से यही उत्तम है मित्र।'

'खाक उत्तम है। अरे, यह तो बुद्धानुशासन भी नही।'

'यह कैसे?'

'अरे, देवताओ के प्रिय राजा के इस कार्य मे बौद्ध सघ परिग्रहवान बन गया है। पहले भिक्षु की निजी सम्पत्ति केवल तीन चीवर और एक भिक्षा पात्र था। भिक्षु सघ केवल चातुर्मास भर एक स्थान पर रहता था। पर अब तो बड़े-बड़े विहार बन गए और उनमें आलसी, कामचोर, लुच्चे, सिर मुडा, चीवर पहन कर मूत्र घोड़ते और माल-मलीदे उड़ाते हैं।'

'तो इसमे क्या ?'

श्रोत्रिय ने फिर क्रोधित हो कहा—'गृहपति, तू इतना भी नही जानता, इससे इच्छा और अभिमान बढ़ते हैं। तथागत ने तो कहा था कि भिक्षु को सत्कार का अभिनन्दन नही करना चाहिए।'

उनका यह विवाद हो ही रहा था कि सामने एक दिगम्बर और एक भिक्षु झगड़ा करते हुए वहा निकले।

दिगम्बर कह रहा था—'ओ णमोअलिहंताणं। अरे सुन, इस मलमय पुदगल शरीर को जलो से शुद्धि नही हो सकती। आत्मा विमल-स्वभाव है।'

भिक्षु का उत्तर था—'अरे मूर्ख, सब पदार्थ क्षण स्थायी और अनात्मक हैं। वे ब्रह्म से जान पड़ते हैं। पर जब चित्त-संतति मे से सब वासनाएं निकल जाती हैं, तब वह विषयो से विरक्त हो जाता है।'

दिगम्बर ने धीरे से कहा—'तू पाखंडी है।'

भिक्षु हंस दिया और बोला, 'तू मूर्ख है। अरे, यह सौगात धर्म अच्छा है। सोने को उत्तम आवास, नियमित समय पर मिष्ठान भोजन, उत्तम बिछौने। कह क्या कहता है। सब संस्कार क्षणिक है। आत्मा स्थायी नही है।'

इसी समय भस्म अंग मे लपेटे, बाघम्बर कमर मे बाधे, नर-कपाल हाथ मे लिये एक कापालिक भी उधर आ निकला। उसने हाथ ऊंचा करके कहा—'डिमडिम डमरू बजाकर और भूत गणो को एकत्र कर जो भगवान भूतनाथ प्रलय का तांडव नृत्य करते है, मैं उन्ही की उपासना कर मनुष्य की खोपड़ी मे सुरापान करता हूं। नरमास चिताग्नि पर सेक कर खाता हूं। मैं सिद्ध हूं—कौन क्या लेगा, माग ले। मैं सब ऋद्धि-सिद्धि का ज्ञाता त्रिकालदर्शी पुरुष हूं।'

श्रावक ने उससे भयभीत होकर उसे प्रणाम किया—'हे त्रिकालज्ञ, आपको प्रणाम है।'

यह देख भिक्षु बोल उठा—'किन्तु तथागत का उपदेश है—अहिंसा परमो धर्मः।'

कापालिक ने अवज्ञा से कहा—'अरे पाखडी, विषयो ही मे सुख है।'

दिगम्बर बोला—'अरे कापालिक, सरागी मुक्ति सम्भव नही।'

कापालिक ने नर-कपाल मे मधु भरकर कहा—'देख रे महान्ध, यह पाश के उच्छेद की अमृत औषधि है। इसे पान कर फिर मुक्ति का चिन्तन कर।'

'अरे रे रे, सुरापान महापातक।' यह कह श्रावक वहा मे चला गया।

'सौत्रामण्यां सुरां पेवेत' कह कर श्रोत्रिय भी चला गया।

दिगम्बर ने भिक्षु से कहा—'हम भी चलें, इस मूर्ख ने देवताओ के प्रिय अनुशासन नही सुना है'। यह कह वे भी चल दिए।

कापालिक बैठकर नर-कपाल में भरकर मदिरा पीने लगा।

बारह

राज प्रासाद के सभा भवन मे सम्राट अशोक स्वर्ण पीठ पर विराजमान थे। पार्श्व मे महामात्य राधागुप्त धर्मासन पर आसीन थे। दण्डधर, कचुकी, चंवरवाहिनी, द्वारपाल अपने-अपने स्थान पर सावधान खड़े थे। सम्राट के सम्मुख व्याघ्र आसन पर काषाय धारी मोग्गलिपुत्र तिष्य और आचार्य उपगुप्त भी आसीन थे। तिष्य की अवस्था चौरासी को पार कर चुकी थी। वे कृशकाय तपः पूत निश्चल स्थिर शान्त मुद्रा में बैठे थे। उपगुप्त गम्भीर मुद्रा में थे।

सम्राट ने बद्धांजलि होकर निवेदन किया—'भन्ते भगवन, अब तो मेरा घोष धर्मघोष मे परिणत हो चुका है। कहो राधागुप्त, तथागत की धर्माज्ञाओ की कैसी स्थापना हुई है?'

राधागुप्त ने उत्तर दिया—'देवानां-प्रिय-प्रियदर्शी के विशाल साम्राज्य

शासन-सूर्य की प्रखर स्वर्णिम किरणें हिमालय के श्वेत मस्तक का आलिंगन करती हुई समुद्र के अधरों का चुम्बन करती है। अब पृथ्वी प्रियदर्शी के अधीन है। और देवनांप्रिय प्रियदर्शी महाराज धर्माधीन है। इसी से प्रियदर्शी महाराज की धर्माज्ञाएं मैंने शिलाभिलेखों, स्तूपों और धर्म स्तूपों पर अंकित कर दी हैं, जिससे सब कोई उन्हें पढ़ें और धर्माचरण करें।'

यह सुन तिष्य बोले—'साधु, सम्राट साधु। क्या ये धर्माज्ञाएं साम्राज्य भर मे अंकित है।'

सम्राट ने फिर निवेदन किया—'भन्ते भगवन्, जहां-जहां जनपद है, वहां-वहां तथागत का शासन चक्र चल रहा है। कलिंग मे जितने लोग आहत हुए, निधन किए और बंदी बनाए गए, यदि उनका शतांश-सहस्रांश भी अब आहत किया जाय या बंदी बनाया जाय तो यह मेरे लिए असीम दु:खदायक है।'

राधागुप्त ने भी कहा—'इसी से भन्ते भगवन्, देवताओ के प्रिय का वह मत, कि जो बुराई करे उसे भी क्षमा किया जाय, जो अर्द्ध सभ्य वनवासी जन देवताओ के प्रिय के विजित राज्य मे है, उनको भी धर्म-मार्ग पर लाने के लिए, धर्मघोप प्रसारित किया गया है कि देवताओ का प्रिय सब जीवो की अक्षति, सयम, समता और आनंद का अभिलाषी है। धर्म-विजय ही को देवताओ का प्रिय अच्छा समझता है। देवताओं के प्रिय की वह धर्म विजय अपने विजित राज्य मे तथा सब सीमान्त प्रदेशो मे छः सौ योजन (यवनराज अन्तियोकस तथा अन्य चार राजा टालिमी, अतिकिन तथा मग, और नीचे, चोड-पाडव कथा ताम्रपर्णी) तक प्राप्त हुई है।'

सम्राट ने निवेदन किया—'प्राचीन काल के राजा धर्म के अनुरूप न बढ सके। इसलिए मैंने विविध धर्मानुशासन प्रेषित किया है। मैंने आज्ञा दी है कि वे लोगों को धर्म के प्रति उत्साहित करें। धर्म-प्रचार के हेतु मैंने धर्म संघ स्थापित किए है, तथा धर्म महात्माओ की नियुक्ति की है। धर्म-लिपियां लिखाई हैं। यह सब लोगों के सुख और भलाई के लिए है।'

उपगुप्त बोले—'सम्राट, अपनी इस न्याय-समता और धर्म कर्त्तव्य से जैसे तू स्वर्ग-प्राप्ति और राजकर्त्तव्य से उऋणता प्राप्त करेगा, वैसे ही तेरी प्रजा भी इन्द्र लोक और परलोक मे सुखी होगी। सर्वलोक का कल्याण

तेरा कर्त्तव्य है। तेरे इस सत्कृत्य से प्रजा अपने को ईर्ष्या, द्वेष, आलस्य और असहिष्णुता से बचाकर प्रशक्ति, प्रशान्ति, क्षमा शीलता आदि गुण ग्रहण करेगी।'

सम्राट ने फिर निवेदन किया—'इसी से आचार्य, मैंने ऐसा प्रबंध किया है कि जिससे प्रत्येक समय, चाहे मैं खाता ही होऊ, चाहे अन्त:पुर में होऊ, चाहे महल में होऊ, चाहे यात्रा में रहूं, चाहे वाटिका में भ्रमण करता होऊं, सर्वत्र कही भी प्रतिवेदक मुझे प्रजा के कार्य की सूचना दे आवेदन करे। ये तोपे उटनसि। अथ्र सतिरणयेन कटविय मतेहि मे सब्र लोकहिते।'

तिष्य बोले—'राजन, सर्वलोक कल्याण से बढकर कोई दूसरा कार्य नही है।'

सम्राट ने फिर निवेदन किया—'मैं जो कुछ भी कार्य करता हूं, वह इसलिए कि मैं जीव धारी के ऋण से उऋण होऊं। इसी हेतु मैंने यह धर्म-लिपि लिखवाई कि चिरस्थायी होवे। और सम्पूर्ण विश्व के कल्याण हित मेरे पुत्र, पौत्र इसी प्रकार उद्योग करें। वे शस्त्रो द्वारा विजय का विचार न कर उन्हे उदारता-सहिष्णुता और दण्ड-मृदुता में आनन्द मनाना चाहिए।'

'सर्वलोक कल्याण मे बढ़कर दूसरा कार्य नही है।'

राधागुप्त ने कहा—'भगवन भन्ते, देवताओं के प्रिय-प्रियदर्शी राजा ने विजित प्रदेशों में तथा सीमान्त देशों में, दोनों प्रकार की चिकित्सा का प्रबध किया है। मनुष्य की चिकित्सा तथा पशुओं की चिकित्सा। मनुष्य तथा पशुओं के लिए उपयोगी औषधिया जहा-जहां नही है, वहां-वहां वे ले जाई गई और लगाई गई हैं। इसी प्रकार मनुष्य और पशुओं के हेतु जहां फल और मूल नही, वहां वहां वे लाए और बोए गए तथा मार्ग में कुए खुदवाए और पेड़ लगवाए गए है।'

तिष्य बोले—'सर्वलोक कल्याण से बढ़कर दूसरा कोई कार्य नही है।'

अब उपगुप्त भी बोले—'किंतु अभी प्रियदर्शी को गुरुतर कार्य करना अभीष्ट है।'

उपगुप्त के मुख मे यह वचन सुनकर सम्राट ने पूछा—'कौन-सा

गुरुतर कार्य ?'

'संघ का एकीकरण, भेद से रक्षण, संघानुशासन।'

'तो भन्ते भगवन, सघ को एकत्र किया जाये। सघ-भेद से संघ-नाश होगा, धर्म अस्थिर होगा।'

तिष्य ने कहा—'प्रियदर्शी ने ठीक कहा। संघ ऐक्यता के लिए उसका पराक्रम सफलीकृत होगा। आने वाले दुस्तर भेदों से सघ की रक्षा होगी। तथागत के वचनों का शुद्ध भाव प्रकट होगा। संघ सुगठित होगा।'

उपगुप्त ने विवरण दिया—'ऐसी महासभाए पूर्व भी हो चुकी है। पहली सभा पाटलिपुत्र मे हुई थी, जिसके अधिपति महाकश्यप थे। दूसरी वैशाली मे हुई, जिसका अध्यक्ष प्रियदर्शी ही था। अब तीसरी सभा भी हो, जिसके अध्यक्ष सघपति मोग्गलिपुत्र तिष्य हों।'

सम्राट ने कहा—'तो राधागुप्त, प्रबंध करो, व्यवस्था करो। जम्बूद्वीप के सब भिक्षु आए। वे पाटलिपुत्र मे एकत्र हो। मिथ्यावादी भिक्षु भी आए। थीरोभगवान तिष्य सभापति के आसन पर विराजें और पूछें कि कल्याण रूप भगवान बुद्ध का धर्म क्या है? प्रत्येक भिक्षु अपने धर्म-विचार से व्याख्या करें। तब मिथ्यावादी भिक्षुओं को संघ से निकाल दिया जाये।'

राधागुप्त ने विनयावत कहा—'प्रियदर्शी सम्राट की जैसी आज्ञा।'

तिष्य बोले—'प्रियदर्शी का पराक्रम अभिनन्दनीय है।'

सम्राट ने पूछा—'भन्ते भगवन, भगवान के क्या सिद्धात है?'

'राजन्, धर्म के चौरासी हजार अभिप्राय है।'

'तो भन्ते आचार्य, मैं प्रत्येक के लिए एक-एक विहार समर्पित करूँगा। राधागुप्त, चौरासी हजार विहारों के लिए नब्बे हजार घड़े द्रव्य वितरण कर दो और स्थानीय राजाओ-रज्जुओं, महापात्रों को आदेश भेज दो कि जम्बूद्वीप में चौरासी हजार ग्रामो मे विहार बनवाएं।'

'साधु ! साधु !!'

तेरह

अभी सूर्योदय नहीं हुआ था। महल में रात-भर उत्सव रहा, इससे दास-दासियां सुखपूर्वक विश्राम न कर पाये थे, कि ऊषा वेला में ही उनकी दिन-चर्या आरम्भ हो गई। दो दासियां राजोद्यान में पुष्प चयन के लिए आई। एक ने दूसरी से कहा—रात्रि भर विश्राम नहीं मिला, अब ऊषा-वेला में ही पुष्प चयन के लिए आना पड़ा, भला यह तो बता, आज भी कौन-सा उत्सव है?

दूसरी ने हंसकर उत्तर दिया—'अरी, बूढी होने पर भी इतनी अभि-राम है तू। इतना भी नहीं जानती कि आज नक्षत्र दिवस है। देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी महाराज यहीं प्रमद वाटिका में आर्या पट्ट राजमहिषी पद्मावती के पास पधार रहे हैं।'

'तब तो महिषी असन्धिमित्रा भी उनके साथ आएंगी।'

'नहीं तो क्या?'

'आज यह नक्षत्र दिवस कैसा है सखि।'

'तुझे इतना भी नहीं मालूम। आज कुमार धर्मविवर्धन अन्तपाल नियुक्त होकर गांधार जा रहे हैं। इसी से।'

'अहा, कुमार धर्मविवर्धन कैसे प्रियदर्शी हैं।'

'वैसी ही प्रियदर्शना हमारी पट्ट राजमहिषी पद्मावती भी तो हैं। योग्य माता के सुयोग्य पुत्र।'

'पर मैंने तो सुना है, महिषी आयुष्मान सम्प्रति में अधिक प्रीति रखती हैं।'

'ऐसा तो है ही। एक क्षण भी वे आयुष्मान को आंखों से दूर नहीं करतीं।'

'आयुष्मान सम्प्रति आर्य कुमार के साथ गांधार जाएंगे, तब आर्या महिषी क्या करेंगी?'

'आयुष्मान को वे जाने ही नहीं देंगी। अपने ही सान्निध्य में रखेंगी।'

'पुत्र से अधिक पौत्र प्रिय है न।'

'इसमें एक रहस्य है।'

'सच?'

'किसी से कहना नहीं। आयुष्मान सम्प्रति ही मगध के भावी सम्राट है, समझ रख।'

'अरे, यह कैसी बात? और महाभट्टारकपादीय कुमार महेन्द्र?'

'वे तो एक दिन परिव्रजित हो भिक्षु का काषाय धारण करेंगे।'

'शांत पाप। जलमुंही, ऐसा बोलती है। महाभट्टारकपादीय का यौवराज्याभिषेक हो चुका है। यह तू क्या नहीं जानती?'

'जानती हूं। सब जानती हूं। परन्तु!'

'बात मुंह में ही रह गई। राजमहिषी पद्मावती और असन्धिमित्रा धीरे-धीरे बात करती उधर आ निकलीं। दोनों दासियां सावधान होकर करबद्ध खड़ी हो गई।'

पद्मावती ने एक दासी से कहा—'देख तो भला, मालती की लताएं कुसुमित है, न?'

'आर्ये, खूब कुसुमित है, मोतियों की भांति फूल लदे है।'

यह कहकर वह जल्दी से अंजली-भर फूल तोड़ने लगी।

पद्मावती ने उसे रोककर कहा—'बस, बस। अधिक फूल न तोड।'

असन्धिमित्रा ने पूछा—'किसलिए निवारण करती है देवी?'

'आर्यपुत्र आज यहीं पधार रहे है। वे फूलों से लदे हुए वृक्ष देखेंगे तो प्रसन्न होंगे।'

असन्धिमित्रा ने हंसकर कहा—'आर्यपुत्र को क्या इतना अवकाश होगा?'

पद्मावती ने भी हंसकर उत्तर दिया—'देवी के सान्निध्य में कदाचित् न हो। देवी को देखकर आर्यपुत्र ठगे-से रह जाते है। वह इस व्रीडानमित रूप माधुर्य को देखेंगे कि पुष्पभारनमित मालती वृक्ष को।'

असन्धिमित्रा लजाकर दासी से बोली—'अरी देख, प्रियदर्शी महाराज स्नान से निवृत्त हो चुके या नहीं?'

'जैसी स्वामिनी की आज्ञा।' कहकर दासी चली गई।

असन्धिमित्रा ने दूसरी दासी से कहा—'हला, तू आर्य पुत्र के लिए मालती की एक माला गूंथ ले। तब तक हम इस शिलाखण्ड पर बैठती है।'

शिलाखण्ड पर बैठकर असन्धिमित्रा ने पद्मावती से कहा—'देवी, क्या

आर्य पुत्र आपको बहुत प्रिय है ?'

'आर्य पुत्र जैसे मेरे हैं, वैसे ही देवी के भी है।'

'कदाचित। परन्तु आर्य पुत्र देवताओं के प्रिय है, देवियों के प्रिय नही।'

'यह क्यों देवी ?'

'धर्मसमुदाचार के कारण। थोडा भी स्नेह जो उनके हृदय में है, वह धर्म ही के लिए।'

'ठीक है, इसी से तो आर्य पुत्र देवताओं के प्रिय कहाते हैं।'

'प्रियदर्शी भी तो।'

'ठीक कहा।' कहकर पद्मावती ने दीर्घ निश्वास ली।

'देवी खिन्न हैं। क्या आर्य पुत्र के धर्मसमुदाचार के कारण ?'

'पुत्र-वियोग से खिन्न हूं देवी, पहली ही बार मेरा धर्मविवर्धन दूर देश जा रहा है।'

'गान्धार न ?'

'गान्धार सीमान्त पर दस्यु है, शत्रु-शक्तियां है, संघर्ष है।'

'पर देवताओ के प्रिय की धर्मविजय ने सभी संघर्षों को समाप्त कर दिया है। फिर राजकाज तो राजपुत्र को देखना ही है।'

'ठीक है, पर मेरा मातृ-हृदय भी तो है। एक ही मेरा पुत्र है।'

इसी समय सम्राट और धर्मविवर्धन भी वहां आ पहुंचे।

पद्मावती ने कहा—'आर्यपुत्र की जय हो।'

असन्धिमित्रा ने भी कहा—'आर्यपुत्र की जय हो।'

धर्मविवर्धन ने दोनों महीषियो का अभिवादन कर कहा—'दोनों माताओं की चरण वन्दना करता हूं।'

पद्मावती ने आशीष की—'दीर्घ जीवी होओ पुत्र।'

असन्धिमित्रा ने भी आशीर्वाद देकर कहा—'यशस्वी-वर्चस्वी-तेजस्वी भूयाः।'

सम्राट बोले—'अहा, शरत्काल के निर्मल अन्तरिक्ष मे दूर तक फैले हुए इन धवल अभ्रों के बीच उड़ती हुई सारसों की पंक्ति कैसी भली लग रही है।'

पद्मावती ने उत्तर दिया—'जैसे मर्यादा की रेखा हो।'

'सच है। धर्म की मर्यादा ऐसी ही उज्ज्वल है। परतु शरत्कालीन यह आतप भी दुस्सह है। उस माधवी मंडप में चलकर बैठें।'

'जैसी आर्यपुत्र की आज्ञा।'

माधवी मण्डप मे आकर सम्राट ने पद्मावती से कहा—'देवी प्रसन्न हो, आयुष्मान धर्मविवर्धन चिरजीव सम्प्रति को तुम्हारे ही पास छोड जाएगा।'

पद्मावती ने विकल होकर कहा—'कैसे वह पुत्र-वियोग सहन करेगा।'

धर्मविवर्धन ने हंसकर कहा—'माता, आपकी ही भांति।'

सम्राट बोले—'चिरंजीव सम्प्रति के बिना मैं भी तो क्षण-भर नहीं रह सकता।'

चौदह

आचार्य उपगुप्त की आज्ञा से सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार और शुद्धि के लिए भिक्षु संघों की महासभा आयोजित की। यह महासभाएं महीनों तक चलती रहती थी। यह तीसरी महासभा पाटलीपुत्र के अशोक विहार मे जुडी और एक महीने तक चलती रही। इसमे महा मोग्गलिपुत्र तिष्य प्रधान आसन पर विराजमान हुए। पाटलीपुत्र के स्थविर और भिक्षुओं के अतिरिक्त जम्बूद्वीप के भी अनेक भिक्षु स्थविर, सहस्रों काषाय-धारी भिक्षुक और विद्वान सम्मिलित हुए।

सम्राट ने उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा—'भन्ते भद्रगण, आपको विदित है कि बुद्ध धर्म और सघ के प्रति मेरी कितनी श्रद्धा-भक्ति और प्रीति है। सब बातें जो महाभाग बुद्ध के मुख से उच्चारित हुई हैं, वे सब अक्षरशः सत्य और सुन्दर हैं। और निस्संदेह भद्रगण, जहा तक मैं अनागत का निरूपण कर सकता हूं, मुझे विश्वास रखना चाहिए कि सत्य-धर्म चिरस्थापित होगा।

'भद्रगण, आचार्यों ने धर्म ग्रंथो का निर्णय कर लिया है। मेरा आदेश है कि प्रत्येक भिक्षु भिक्षुणी इनका नित्य अध्ययन करे। उन्हे कठाग्र धर्म की उन्नति हो। धर्म के इन प्रकरणो को भद्रगण, मेरी अभिलाषा है करे, जिससे कि भिक्षु तथा भिक्षुणिया अत्यधिक सख्या मे श्रवण और मनन करें। भिक्षु-भिक्षुणियो के अतिरिक्त साधारण जनता भी ऐसा ही करे—यही अभिलाषा है। इसी से मैंने महापात्रों को आदेश दिया है कि वे मेरा आदेश कोट-नगर मे साधारण वर्ग तक पहुँचा दें।

'भद्रगण, जब तक मेरे पुत्र और परपौत्र शासन करें, जब तक चंद्र और सूर्य तपे, तब तक भिक्षु और भिक्षुणियों का संघ संयुक्त रहेगा। भिक्षु या भिक्षुणी जो कोई भी संघ-विभेद करेगा, उसे सफेद वस्त्र पहनाकर सघ से और विहार मे बहिष्कृत कर दिया जायेगा।'

उपगुप्त ने कहा—'भिक्षुओ, सघ मे दो भेद हो गए थे। थेरवाद और महासांघिक। ये भेद देवताओ के प्रिय को स्वीकार न थे। सम्राट इन भेदों को संघ-नाशक समझते थे। अब नौ महीने के विवाद से यह भेद मिट चुका है। अब सघ का शुद्ध संगठन हो गया है। साठ हजार मिथ्यावादी भिक्षु सघ से निकाल दिए गए है। संघ सयुक्त और चिरजीवी हो। सम्राट धर्म के प्रति अत्यन्त श्रद्धावान हैं। उनकी इच्छा ठीक ही है कि संघ भेद न हो। उसकी श्री-वृद्धि हो। इसलिए भिक्षुओ, संघ का उल्लंघन कोई नही कर सकेगा। जो कोई भिक्षु या भिक्षुणी संघ को तोड़े, उसे सफेद वस्त्र पहनाए जाएगे। उमे विहार से अलग रहना होगा। यह संघ का अनुशासन है। भिक्षुओ, कहो तो —'कल्याणमय भगवान का सिद्धांत क्या था?'

सब एक स्वर से बोल उठे—'सत्यता।'

सम्राट ने कहा—'भद्रगण, पाप-भिक्षु निकाल दिए गए। संघ विमलीकृत हुआ। अब 'उपोसथो' मनाना चाहिए, अनुमति देता हूं। एक सहस्र पवित्र भिक्षु, जो प्रज्ञा ज्ञानवान् हैं, धर्म सभा मे गये हैं, जिनके स्वामी भगवान् तिष्य है।'

अब तिष्य ने कहा—'धर्म अच्छा है, साधु है। पाप से अपने को बचाना सुकृत करना। दया-दान-सत्यता और शुद्धता—जो इन धर्मानुशासन पर आचरण करेगा, वह सुकृत करेगा, सुखी रहेगा।'

पंद्रह

रात्रि के प्रथम प्रहर में युवराज महेन्द्रादित्य अपनी पत्नी चारुशीला सहित रंगमहालय के उद्यान में एक स्फटिक शिला पर बैठे चांदनी रात का आनंद ले रहे थे। उद्यान में गंगा की श्वेत धारा दौड़ रही थी। युवरानी की गोद में एक वर्ष का शिशु था। शिशु माता की सुखद गोद में लेटा शीतल मन्द समीर के सुख-स्पर्श से आनन्द क्रीड़ा कर रहा था।

महेन्द्र बोले—'प्रिये चारुशीले, चंद्रमा की ज्योत्स्ना से स्निग्ध रात्रि का यह प्रथम प्रहर घाट के प्रथम प्रासाद के समान ही सुखदायी है।'

चारुशीला ने उत्तर दिया—'हां आर्यपुत्र, उस दिन जब हम प्रथम बार मिले थे, ऐसी ही स्निग्ध चादनी रात थी।'

'तुम्हें याद है?'

'अभी एक ही वर्ष पूरा हुआ। भूल जाएगी उसे, उन मधुमयी रात्रि को जिसने मेरे जीवन को एक ही क्षण में आपूर्यमाण कर दिया था। तब से अब तो एक और श्रीवृद्धि हुई है।'

'कैसी श्रीवृद्धि?'

चारुशीला ने हंसकर क्रीडा से कहा—'यह पुत्र हमारी आत्मा का मूर्त अवतरण, हमारे आंतरिक प्रेम का सजीव पुरस्कार।'

'यह तो सुधाधर की प्रतिमूर्ति ही तुमने बनाई है प्रिये।' यह कहकर पिता ने बालक को अपने अंक में लेकर प्यार किया। बालक चंद्रमा को देखकर हंस दिया।

चारुशीला बोली—'तुम्हारी ही आंखें, तुम्हारे ही होंठ, हास्य और आनंदमय प्रकृति का यह एक छोटा-सा संस्करण है, आर्य पुत्र।'

'मृदुल संस्करण, जिसमें तुम्हारा मार्दव-सौष्ठव भी सम्मिलित है। जैसे यहां हम दोनों अपना पृथकत्व खोकर एकीभूत हो गये हैं। इस पुत्र में न तुम मुझसे पृथक हो, न मैं तुमसे।'

'हां, स्वामी। एक दिन यही तुम्हारे चरण-चिह्नों पर चक्रवर्ती के सिंहासन पर आरूढ़ होगा।'

'यह अभी से कैसे कहा जा सकता है प्रिये।'

'क्यों नहीं, क्या प्रियदर्शी महाराज ने तुम्हें युवराज पद पर अभिषिक्त

नहीं किया ?'

'किया है प्रिये ।'

'तो एक दिन मैं साम्राज्ञी बनूंगी और मेरा पुत्र साम्राज्य का भावी सम्राट। क्या इसमें तुम चक्रवर्ती के चिह्न नहीं देख रहे ?'

यह सुन महेन्द्र ने पुत्र को पत्नी की गोद में दे दिया, फिर गम्भीर होकर उत्तर दिया—'मैं और भी कुछ देख रहा हूं प्रिये ।'

'और क्या ?'

'देवताओं के प्रिय महाराज का धर्मानुशासन साम्राज्य से ऊपर उठ रहा है। उन्होंने वीरघोष को धर्मघोष बनाया है।'

'तो इससे क्या धर्म का राज्य तो और भी महत्त्वपूर्ण है। क्या तुम नहीं देखते, देवताओ के प्रिय महाराज का यश पूर्ववर्ती सभी सम्राटों से अधिक कीर्तिमान हो रहा है।'

'देख रहा हूं। इससे मैं यह समझता हू कि पृथ्वी इस साम्राज्य मे तो धर्म का साम्राज्य ही श्रेयस्कर है।'

'दोनों एक ही तो हैं, आर्यपुत्र। देवताओं के प्रिय महाराज, दोनों ही के एकमात्र सम्राट हैं।'

'पर सम्राट पहले शस्त्र-ग्रहण कर चुके हैं। कलिंग का घातक कितना बडा है। जानती हो। अभी भी साम्राज्य की सेना है, राज परिच्छेद है। जय-विजय है। इससे मैं देखता हूं प्रिये, कि धर्म का साम्राज्य पृथ्वी के साम्राज्य मे पृथक ही ठीक है।'

चारुशीला ने शंकित होकर पूछा—'इससे तुम्हारा क्या अभिप्राय है स्वामिन्।'

महेन्द्र गम्भीर हो गए। बोले—'सोचता हूं कभी-कभी कि मैं भी प्रव्रजित होकर धर्मानुशासन करूं।'

चारुशीला भयभीत स्वर में कह उठी—'प्रव्रजित होकर क्यो ? प्रियदर्शी महाराज की भांति धर्म सिंहासन पर बैठकर क्यो नही ?'

'फिर यदि बाधित होकर शस्त्रपाणि होना पड़े।'

'देवताओ के प्रिय भी तो शस्त्र त्याग चुके।'

'यह कितना दुष्कर है प्रिये, यह मैंने देखा है।'

चारूशीला ने पुत्र को पति की गोद मे देकर कहा—'यह तुम्हारा पुत्र है स्वामिन्, इसे त्याग कर प्रव्रजित होना क्या सुकर है ?'

'तुम्हे त्याग कर भी सुकर नही है। परन्तु करणीय तो करणीय ही है।'

पिता की गोद मे आते ही बालक ने दोनों बाहे पिता के कंठ में डाल दी और हंस दिया।

उसे हसता देख महेन्द्र बोले—'तुम गम्भीर क्यो हो गई प्रिये, यह प्रिय दर्शन तो मेरी बात सुनकर हसता है। कौन जाने यह भी प्रव्रजित होना चाहे।'

चारूशीला ने किंचित क्रुद्ध होकर कहा—

'यह संघ तो राजा-रक सभी के घरो को शून्य कर रहा है। स्वामिन्, मेरा मन तो इससे विद्रोह करता है।'

'विद्रोह क्यो प्रिये ?'

'क्या धर्मपथ प्रव्रजित होकर ही अपनाया जा सकता है। गृहस्थ भी तो धर्म है।'

'धर्म ही क्यो, धर्मों का केन्द्र है।'

'सभी गृहस्थ यदि प्रव्रजित हो तो क्या यह श्रेयस्कर होगा ?'

'कुछ लोग जन कल्याण के लिए प्रव्रजित होते हैं, कुछ अपने कल्याण के लिए।'

'मैं तो जानती हूं, जीवन का मध्य तरुण अवस्था है, उसका केन्द्र गृहस्थ धर्म है। पवित्र गृहस्थ धर्म सब धर्मों से श्रेष्ठ है। यही तो तथागत ने कहा है।'

'यही आर्या चारूशीला कह रही है। किन्तु हमारा यह पुत्र केवल हंस रहा है। कदाचित हम जीवन के सच्चे रूप को नही समझते।'

'सम्बुद्ध ने मध्य मार्ग की ही प्रशसा की है। गृहस्थ धर्म ही मध्य मार्ग है।'

'फिर भी प्रिये, तथागत प्रव्रजित हुए। उस समय वे तरुण थे, जैसा मैं हूं। उनका एक भी बाल सफेद न हुआ था। उनके माता-पिता अनुमति नही देते थे। अश्रु प्रवाह से उनके मुख भीग गए थे। वे निरन्तर रो रहे थे। फिर भी वे सिर मुड़वाकर काषाय पहनकर घर से निकल पड़े और

परिव्राजक बने।'

'किन्तु आर्य पुत्र तो देवताओ के प्रिय महाराज का ही अनुसरण करेगे।'

महेन्द्र हंसकर बोले—'तथागत का क्यों नहीं।'

यह सुन चारुशीला की आखो मे आसू छलक आए। कहने लगी—'आप ऐसा क्यों विचारते हैं स्वामी। अभी हमारी तरुण अवस्था है। जीवन का प्रभात है। प्रभु ने हमारी गोद भरी है। हमें प्रथम अपना कल्याण करना है, पीछे दूसरों का।'

'ऐसा क्यो प्रिये, क्यों न हम औरों ही के कल्याण मे अपना कल्याण मानें।'

इतना कहकर महेन्द्र गहन चिन्तन में डूब गये। चारुशीला पुत्र को हृदय से लगाकर अपने पति के भावो मे खो गई।

विश्व पर छाया हुआ है वेदना का भार।
प्राणियों का आर्त स्वर अविराम हाहाकार।

सोलह

बिहार मे बौद्ध संघ की विशेष सभा का अधिवेशन पाटलिपुत्र के अशोकाराम महाविहार मे जुड़ा। सघ के साठ हजार भिक्षु पीतवसन मुण्डित सिर वहां एकत्रित हुए। सघ के सभापति मोग्गलिपुत्र तिष्य उच्चासन पर विराजमान थे। उन्ही के निकट स्थविर उपगुप्त भी बैठे थे। सम्राट भी आचार्यों के निकट सिंहासन पर बैठे थे। निकट मे राज परिवार के व्यक्ति भट्टारकपादीय युवराज महेन्द्रकुमार, उनका पुत्र, राजकुमारी सघमित्रा, उसका पुत्र सुमन तथा राजकुमारी चारुमती और उसका पति देवपाल, राजपुत्र हिवाला-जालौका यथा स्थान आसनों पर बैठे हुए थे। अवरोध मे

असन्धिमित्रा, पद्मावती, विदिशा देवी कारुवाणी, महादेवी तिष्यरक्षिता —राजमहिषियां भी बैठी थी। चारूशीला भी उनके पार्श्व मे अश्रुपूर्ण नेत्र बैठी हुई थी। छत्रधर, दण्डधर, द्वारपाल, संदेश-वाहक, धर्मपात धर्मामात्य भी यथा स्थान उपस्थित थे। सम्राट के निकट वृद्ध महामात्य राधागुप्त गम्भीर मुद्रा मे बैठे इस विशेष सभा का उद्देश्य विचार रहे थे।

सम्राट ने संघ के मध्य मे खडे होकर कहा—'संघ सुने। तीन वर्ष के सतत प्रयास से महाविहार आज सम्पूर्ण हुआ। इसमे साठ हजार भिक्षुओं का नित्य अवधान होगा। अब मैं यह विहार संघ के अर्पण करता हू। इसके अतिरिक्त सारे जम्बूद्वीप के चौरासी हजार नगरो मे चौरासी हजार चैत्यों से मण्डित चौरासी हजार विहार भी बनकर सम्पूर्ण हुए हैं। उन्हे भी मैं संघ के अर्पण करता हू।'

यह सुन तिष्य बोले—'आज जम्बूद्वीप मे धर्मराज अशोक की विजय-दुन्दुभि बज रही है। जम्बूद्वीप काषाय मे जगमगा रहा है। संघ के लिए दिया यह दान मैं संघ के लिए ग्रहण करता हू। पाटलिपुत्र का यह महाविहार अब से संसार मे कीर्तिमान और अशोकाराम के नाम से विख्यात हो। इसकी व्यवस्था और रक्षण के लिए मैं इन्द्रगुप्त स्थविर को नियुक्त करता हू। शेष विहारो की और चैत्यों की व्यवस्था थेर उपगुप्त करेंगे।'

सम्राट ने आगे कहा—'संघ सुने। लोक-कल्याण के लिए मैंने धर्म-स्तम्भ स्थापित किए हैं। धर्म महापात्रों की नियुक्ति की है। पाषाण-स्तम्भों पाषाण-शिलाओं पर धर्म-लेख उत्कीर्ण किए हैं।'

उपगुप्त बोले—'सम्राट के इस पराक्रम से जम्बूद्वीप के वे लोग जो देवताओं से परिचित न थे, अब परिचित हो गए हैं। धर्मराज के धर्मानु-शासन का अनुसरण करने से वे लोग पुण्यात्मा हो गए है।'

सम्राट ने आगे कहा—'मैंने धर्म लेख उद्घोषित किया है कि किसी जीव का वध न हो, किसी जीव का होम न किया जाय।'

तिष्य बोले—'बहुत समय हुआ, सैकड़ों जीवों की हिंसा, प्राणियों के प्रति क्रूरता, सम्बंधित ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति अनादर बढ़ता गया—किन्तु आज देवताओं के प्रिय के धर्माचरण के कारण 'वीर घोष' 'धर्म घोष' हुआ। जनता में धर्माचरण की रुचि हुई, जिसमें उन्हे आनन्द और स्वर्ग की

प्राप्ति होगी।'

सम्राट ने आगे कहा—'संघ सुने, इसी कारण मैंने धर्मानुशासन प्रकाशित किए हैं। तथा अनेक प्रकार से धर्म की शिक्षा दी है। मेरे पुरुष जो सहस्रों के ऊपर शासन करने के लिए नियत है, धर्म प्रचार एव कर्म प्रसार कर रहे हैं। रज्जुक, जो सौ सहस्र प्राणियों पर शासन के लिए नियुक्त है, वे धर्मानुरक्त लोगो को धर्मशिक्षा दें। इस प्रकार मैंने धर्मानुशासन, धर्मलिपि, धर्म स्तम्भ, धर्म विधान, धर्म महामात्य का प्रसार किया है। पहले धर्मों मे पारस्परिक विरोध था, इससे मैंने सब धर्मों और सम्प्रदायों के लिए जो धर्म महामात्यों की नियुक्ति की है, वे धर्म स्थापना, धर्म की देखभाल, तथा धर्म की वृद्धि के लिए हैं।'

महामात्य राधागुप्त बोले—'देवताओं के प्रिय के धर्म का सर्वत्र अनुसरण हो रहा है। उन राज्यों अथवा देशों के लोग भी, जहा देवताओं के प्रिय के दूत नही जा सकते, देवताओं के प्रिय का धर्माचरण सुनकर धर्म पर आचरण करते है और करेंगे। वाह्य राजाओं ने भी धर्मानुशासन माना है। स्वतंत्र यवनराज अन्त्र ने भी ऐसा ही किया है। सम्राट ने ऐसी धर्मविजय अपने मांगलिक कार्यों मे पाई है।'

उपगुप्त बोले—'देवताओं के प्रियदर्शी राजा की यह धर्म विजय सर्वत्र प्रेम को देने वाली है। धर्म-विजय ही से स्नेह प्राप्त होता है।'

सम्राट ने आगे कहा—'संघ सुने। विदेशों में धर्म प्रचार सक्रियता से हो रहा है। अंतियोकस, तुरय, अतिगोनस, पैठानिक, राष्ट्रिक, मग, अलिकसुन्दर, काम्बोज, नाभाक, नाभपंति, आध्र के राज्यों तथा सीरिया, मिस्र, मेसीडोनिया, इपीरस, कैरीन तथा दूरस्थ दक्षिण चौड़, पाड्य, सत्यपुत्र, केरल पुत्र, ताम्रवर्णी के राज्यों मे पूर्ण धर्म-विजय हो चुकी है। इन सब राज्यो ने भगवन्त बुद्ध का धर्मानुशासन अंगीकार कर लिया है। संघ सुने, हिमवन्त में धीरो मझन्तिक से चौरासी हजार गन्धर्वों, नागों और कुम्भकों को धर्मानुशासित कर परिव्रजित किया है। स्थविर महादेव ने महिषामडल में चालीस हजार मनुष्यों को भिक्षु बनाया है। धीरोरक्षित ने वनवास प्रदेश मे साठ हजार श्रावक और सैंतीस हजार भिक्षु बनाए हैं। धीरोरक्षित ने पांच हजार विहार भी स्थापित किए हैं। धीरो योन को धर्म-

रक्षित ने अपरन्तका प्रदेश मे सत्तर हजार श्रावक तथा एक हजार क्षत्रिय स्त्री-पुरुषों को परिव्रजित कर भिक्षु-संघ में प्रविष्ट किया है। पुण्यात्मा धीरो महाधर्मरक्षित ने परट्ठा मे तेरह हजार भिक्षुओं को दीक्षा दी है। धीरो-महारक्षित मज्जहिमो कस्सपो मलिक देवी धुन्धिमुनिसो ने लक्षावधि जनों को सद्धर्म की दीक्षा दी है। आचार्य सोन और आचार्य उत्तर ने स्वर्ण भूमि में छः लाख मनुष्यों को दीक्षा दी है तथा पन्द्रह सौ भिक्षुणिया थेरी बनाई हैं। अब कल्याणमय भगवान् बुद्ध के धर्म-दीपक मोग्गलिपुत्र तिष्य धर्म के भविष्य पर विचार करें।'

तिष्य हाथ उठाकर बोले—'राजन, तेरे सदृश धर्म का उपकारक तू ही है।'

'तो भन्ते भगवन्, मैं शासन का दायाद हूं या नही ?'

'महाराज, इतने से शासन का दायाद नही, प्रत्ययदायक या उपस्थापक कहलाया जाता है। जो पृथ्वी से लेकर ब्रह्मलोक तक की प्रत्यय राशि भी देवे तो भी वह दायाद नही कहा जा सकता।'

'तो भन्ते, शासन का दायाद कैसे हुआ जाता है ?'

'महाराज, यदि आप अपने सर्वप्रिय पुत्र को प्रव्रजित करें तो आपको शासन का दायाद कहा जा सकता है।'

यह सुनकर सम्राट आकुल दृष्टि से इधर-उधर देखने लगे। युवराज महेन्द्र पर उनकी दृष्टि ठहरी। वे बोले—'यद्यपि मैं प्रिय पुत्र महेन्द्र को युवराज पद दे चुका हूं, पर अब सोचता हूं, युवराज-पद से प्रव्रज्या अच्छी है, हितकर है, कल्याणकारी है। तात महेन्द्र, क्या तुम प्रव्रजित हो सकते हो ?'

पिता के मुख से यह सुन महेन्द्र ने आसन से उठकर बद्धांजलि हो उत्तर दिया—'देव, प्रव्रजित होऊंगा। देव, मुझे प्रव्रजित कर शासन के दायाद बनें।'

सम्राट ने स्त्रियों में बैठी पुत्री राजकुमारी संघमित्रा की ओर देखकर पूछा—'क्या अम्म, तू भी प्रव्रजित होना चाहती है ?'

संघमित्रा ने जो बड़ी तन्मयता से अपने भाई का उत्सर्ग देख रही थी, उत्तर दिया—'हा तात, चाहती हूं।'

सम्राट अब तिष्य से बोले—'भन्ते, इन दोनों बच्चों को प्रव्रजित कर मुझे शासन दायाद बनाइए।'

तिष्य ने कुमार महेन्द्र से पूछा—'आयुष्मन, तेरी आयु कितनी है ?'

'भन्ते, मैंने बीस शरद् व्यतीत किए हैं।'

'आयुष्मती राजकुमारी तेरी आयु कितनी है ?'

'भन्ते आचार्य, मैंने अठारह वसंत देखे हैं।'

'तो आयुष्मंतों, इन बातों से युक्त को उपसम्पदा और प्रव्रज्या मिल सकती है—जो पूर्ण शीलपुंज से युक्त हो, सम्पूर्ण समाधिपुंज से संयुक्त हो। सम्पूर्ण प्रज्ञापुंज से युक्त हो, सम्पूर्ण विभुक्तिपुंज से वियुक्त हो। तुम क्या इनसे युक्त हो ?'

'हां भन्ते।'

'और तू पुत्री ?'

'मैं भी भन्ते।'

'तो संघ सुने। दोनों प्रव्रज्या ग्रहण करें—उपसम्पदा ग्रहण करें। क्या संघ को आपत्ति है ? दूसरी बार भी पूछता हूं। तीसरी बार भी। सब चुप है। तो संघ की अनुमति से स्थविर महोदय आयुष्मान् को प्रव्रजित करें, और माध्यन्तिक स्थविर उसे उपसम्पन्न करें। इसी प्रकार आचार्या आयुपाला थेरी और उपाध्याया धर्मपाला थेरी आयुष्मती को प्रव्रजिता करें, उपसम्पदा दें।'

आचार्य तिष्य की अनुमति से वहीं पर महेन्द्र और संघमित्रा का सिर मुंड कर काषाय पहनाया गया। फिर वे दोनों एक कंधे पर उपरना कर भिक्षुओं की पाद वंदना करके बद्धांजलि उकड़ू बैठ गए। आचार्य ने तीन बार शरण-गमन से श्रामणेर प्रव्रज्या दी। भिक्षु संघ तीन वचनों से जयघोष कर उठे।

संघमित्रा ने कहा—'आर्य सुनें। मेरे पति तिष्यकुमार के साथ प्रथम ही प्रव्रजित हो चुके हैं। मैं आज संघ की शरण आई, और अब यह मेरा पुत्र सुमन है, इसके कल्याण के लिए, इसे भी प्रव्रज्या मिले।'

तिष्य स्वीकार कर बोले—'अनुमति देता हूं, आयुष्मान् को प्रव्रज्या मिले।'

प्रव्रज्या हो चुकने पर आचार्य ने कहा—'तो श्रामणेर महेन्द्र और थेरी संघमित्रा, तुम दोनो सामनेर सुमन सहित स्थविर इट्टिय और भंडक उपासक के साथ, अशोकाराम से निकलकर दक्षिण गिरिदेश में छह मास चारिका करो।'

'जैसी आचार्य की आज्ञा। हम आचार्यों और सम्राट को प्रणाम करते है।'

सम्राट के नेत्र अश्रुपूरित हो उठे, परन्तु उन्होंने कहा—'पुत्र प्रेम मेरे हृदय को छेदने लगा है, किन्तु धर्म पुत्र से बडा है। आयुष्मानो, तुम्हारी धर्म मे मति हो।'

सत्तरह

मुण्डित सिर, पीत-वसन नतसिर महाराज कुमार महेन्द्र भिक्षा-चर्या के लिए अपनी माता विदिशादेवी राजमहिषी की ड्योढियो पर पहुचे। उनके साथ स्थविर इट्टिय और श्रमण भंडक भी थे।

पुत्र को इस वेष मे देख माता आखो में आसू भर कर कहने लगी, 'अरे पुत्र, मैंने तो तुझे ससागरा पृथ्वी का सम्राट होते देखने का स्वप्न देखा था, और तू आज काषाय धारण कर मुण्डित सिर यहां चारिका के लिए आया है। अरे तात, किस निर्दय ने तेरे सघन सुचिक्कण घुघराले केशों को काटने का पातक किया।'

भिक्षु महेन्द्र ने नत दृष्टि हो उत्तर दिया—'महाभागे, धर्म के लिए, सब के सुख के लिए, सब के हित के लिए मैं प्रव्रजित हुआ हूं।'

'अरे पुत्र, मेरी छाती मे शूल विंध गया।'

'आह, सब ससार जल रहा है, चक्षु जल रहा है, रूप जल रहा है, चक्षु का विज्ञान जल रहा है। चक्षु का सस्पर्श जल रहा है और चक्षु के संस्पर्श

के कारण जो वेदनाएं—सुख-दुःख, न सुख न दुख, उत्पन्न होती हैं, वे भी जल रही है। राग-अग्नि से, द्वेष अग्नि से, मोह-अग्नि से, जल रहा है। जन्म-जरा से और मरण के योग से, रोने-पीटने से, दुःख से, दुर्मनस्कता से जल रहा है।'

'यह तू क्या कह रहा है पुत्र।'

'यह देखने वाले को चक्षु से निर्वेद प्राप्त होता है। रूप से निर्वेद प्राप्त होता है, चक्षु विज्ञान से निर्वेद प्राप्त होता है, चक्षु-संस्पर्श से निर्वेद प्राप्त होता है। चक्षु-संस्पर्श के कारण जो यह उत्पन्न होती है वेदना—सुख-दुःख, न सुख न दुःख—उससे भी निर्वेद प्राप्त होता है। इसी प्रकार श्रोत्र से, जिह्वा से, काय-स्पर्श से, मन से, निर्वेद प्राप्त होता है। मन-संस्पर्श से निर्वेद उत्पन्न होता है। निर्वेद से विरक्त होता है—विरक्त होने से मुक्त होता है। मुक्त होने पर 'मैं मुक्त हूं' यह ज्ञात होता है।'

पुत्र के यह वचन सुन माता को ज्ञान चक्षु प्राप्त हुए। उसने आसू पोछ कर कहा—'मैं भी तेरे दर्शन से माया-मुक्त हो गई तात। चक्षु से, श्रोत्र से, स्पर्श से, मन से, निर्वेद प्राप्त कर चुकी तू मेरा पुत्र नही, भावी सम्राट नही, तू ज्ञानी है, तू धर्म-चक्षु है, तू स्थविर है, मैं तेरी चरण-वन्दना करती हू।'

महेन्द्र ने स्थिर हो कहा—'देवी का कल्याण हो। अब भिक्षा मिले।'

राजमहिषी ने भिक्षा दी और निवेदन किया—'स्थविर कुछ दिन यही वास करें, यह मेरा अनुरोध है।'

'मुझे आचार्य ने दक्षिणगिरि मे छह मास चारिका करने का आदेश दिया है।'

तो स्थविर, एक मास यहां चारिका करो। मैं एक बार और आंख भरकर देख लूं।

आचार्य से अनुमति लेकर कह सकता हूं।

यह कह नतदृष्टि भिक्षु-महेन्द्र वहा से चल दिए, माता बोली—

'क्या जा रहे हो, चारू मे बिना ही मिले। कुसुम-कोमल पुत्र को बिना ही देखे।'

महेन्द्र रुक गये। पूछा—'कहाँ है चारु, आई क्यों नहीं ?'

'स्थविर, तुम तो विमल विरज धर्मचक्षु प्राप्त कर चुके, पर वह बहुत

मानिनी है। तुम्हें उसके पास जाना चाहिए।'

'तो देवी, मार्ग दिखाइए।'

माता के साथ महेन्द्र आगे बढ़कर पत्नी के कक्ष में पहुंचे, पत्नी पुत्र को गोद में लेकर द्वार पर आ खड़ी हुई।

राजमहिषी अवरुद्ध कण्ठ बोली—'बस, अब मैं और नहीं देख सकती। अरे प्रज्ञानिधि, कैसे तू पति-प्राणा पत्नी का और प्राणाधिक पुत्र का विसर्जन करेगा?'

परन्तु महेन्द्र ने जैसे सुना ही नहीं। उन्होंने आगे बढ़कर पत्नी के सम्मुख जाकर आशीर्वाद दिया—'कल्याण! कल्याण!' सतप्त हृदया पत्नी कठिनाई से बोल सकी—'कल क्या था और आज क्या हो गया। जीवन के प्रभात में ही तुषारापात हो गया। मेरी सारी अभिलाषाएं मन में ही रह गईं। अरे, इस कुसुम-कोमल पुत्र का चुम्बन भी तुम भूल गए!!!' वह सिसक-सिसक कर रोने लगी। उसका धैर्य टूट गया।

''आर्ये, भूतदया और विश्व प्रेम के लिए।'

'पर जो स्वजनों पर दया नहीं करता, प्रेमाधारों से प्रेम नहीं करता, वह कैसी भूतदया और विश्व प्रेम की बात कहता है। यह कैसा धर्म है, जो लोगों को घर से बेघर करता है, पत्नी से पति को पृथक करता है, पिता को पुत्र से दूर ले जाता है। यह दया धर्म नहीं, पाषाण धर्म है।'

'आर्ये, अनेक के लिए एक का और बहुत के लिए अल्प का त्याग करना चाहिए। यही आत्मबलि है। यही धर्मोत्सर्ग है।'

'कैसा धर्मोत्सर्ग।'

'देवी, किसान खेत में बीज बोता है, वह बीज जब सड़ता है, तब उसमें अकुर फूटता है। अकुर से नये वृक्ष की उत्पत्ति होती है। बीज का यह उत्सर्ग ही उत्पादन का मूल है। जीवन में यही धर्मोत्सर्ग है।'

'तो अब स्थविर यहां किसलिए पधारे हैं?'

महेन्द्र ने भिक्षापात्र आगे करके कहा—'चारिका के लिए। भिक्षा-चर्या के लिए।'

पत्नी ने हठात पुत्र को उठाकर भिक्षु के अंक में डाल दिया। उसने कहा—'लीजिए, यह मेरी भिक्षा ग्रहण कीजिए। जहां पति वहां पुत्र।'

इतना कहते है कि वह मूर्छित हो पति के चरणों में आ गिरी।

वीतराग महेन्द्र छः मास की चारिका करके अशोकाराम के अलिन्द में मोग्गलिपुत्र तिष्य, आचार्य उपगुप्त और सम्राट् के सम्मुख आ उपस्थित हुए। प्रमुख आचार्य और उपाध्याय भी वहां बैठे थे।

तिष्य ने महेन्द्र पर एक दृष्टि डाल कर कहा—'आयुष्मान् तुझे महत्कार्य-भार देना चाहता हूं।'

महेन्द्र ने उत्तर दिया—'जैसी आचार्य की इच्छा।'

'तो पुत्र, तू सिंहलद्वीप में जा। वहां अन्धकारावृत्त अर्द्धसभ्य जनों को सद्धर्म का आलोक दिखा।'

'जैसी आज्ञा।'

'भूखण्ड में सर्वत्र ही सद्धर्म का प्रकाश आलोक बिखेर रहा है। केवल सिंहलद्वीप अभी तक अन्धकाराच्छन्न है। वहां सावधान पुरुष की आवश्यकता है। सो पुत्र, तू ही जा।'

'जैसी आज्ञा।'

'वहां का राजा पण्डित है। धर्म समझता है। तेरी धर्म-विजय चिरस्थायी होगी।'

'जैसी आज्ञा।'

'बारह श्रमण और स्थविर, जैसा तू चाहे अपने साथ ले जा।'

'जैसी आज्ञा। देवताओं के प्रिय की अनुज्ञा हो।'

सम्राट ने छलकते नेत्रों से कहा—'अनुमति देता हूं। धर्म के लिए, जीवों के कल्याण के लिए। प्रथम गंगा पर नाव के द्वारा, फिर विन्ध्याटवी पार कर सात दिन में तू ताम्रलिप्ति पहुंचेगा आयुष्मान्। सात दिन फिर नाग राजा के राज्य से जाना होगा। फिर जम्बुकोलपट्टन से अनुराधापुर समुद्र से जाना होगा।'

'जैसी आज्ञा।'

भिक्षुणी संघमित्रा ने भी वहां उपस्थित होकर निवेदन किया—'गुरुजनों और देवताओं के प्रिय को नमन करती हूं।'

'धर्मवृद्धि हो।'

'आचार्य, मैं भी सिंहल जाऊंगी। वहां की स्त्रियों की सुश्रूषा करने,

साथियों से विशिषता उत्पन्न कर रही थी। उसकी दृष्टि मे एक अद्भुत कोमलता थी जो प्राय. पुरुषों में, विशेषकर युवकों मे, नही पाई जाती। उसके मुख की गठन साफ और सुन्दर थी। उसके मुख पर दया, उदारता और विचारशीलता टपक रही थी।

वह सबसे जरा हटकर, पीछे की ओर बैठा हुआ था और उसका एक हाथ नाव की एक रस्सी पर था। उसकी दृष्टि सागर की चमकीली, तरंगित जल-राशि पर न थी। वह दृष्टि से परे किसी विशेष गम्भीर और विवेचनीय दृश्य को देख रहा था। उसका मुख समुद्र-तीर की उन हरी-भरी पर्वत श्रेणियों की ओर था और उनके बीच मे छिपते सूर्य को वह मानो स्थिर होकर देख रहा था। उसकी ठुड्डी उसके कन्धे पर धरी थी। कभी-कभी उसके हृदय से लम्बी श्वास निकलती और उसके होंठ फड़क जाते थे।

इसके निकट ही एक और मूर्ति चुपचाप पाषाण-प्रतिमा की भांति बैठी थी, जिस पर एकाएक दृष्टि ही नही पड़ती थी। उसके वस्त्र भी पूर्व वर्णित पुरुषों के समान थे। परन्तु उसका रंग नवीन केले के पत्ते के समान था। उसके सिर पर एक पीत उष्णीष बंधा था, पर उसके बीच से उसके घुघराले और चमकीले काले बाल चमक रहे थे। उसके नेत्र शुक्र नक्षत्र की भांति स्वच्छ और चंचल थे। उसका अरुण अधर और अनिद्य सुन्दर मुख-मण्डल सुधावर्ती चन्द्र की स्पर्धा कर रहा था। वास्तव मे वह पुरुष नहीं, बालिका थी। वह पीछे की ओर दृष्टि किए, उन क्षण-क्षण मे दूर होती उपत्यका और पर्वत श्रेणियो के करुण और डबडबाई आंखों से देख रही थी, मानो वह उन चिरपरिचित स्थलो को सदैव के लिए त्याग रही थी। मानो उन पर्वतों के निकट उसका घर था, जहां वह बड़ी हुई खेली। वह वहां से कभी पृथक न हुई और आज जा रही थी सुदूर अज्ञात देश को, जहा मे लौटने की आशा ही न थी।

वह युवक और युवती महेन्द्र और महाराज कुमारी संघमित्रा थे, और उनके साथी बौद्ध भिक्षु। ये दोनो धर्मात्मा, त्यागी राजसंतति सुदूर सागर-वर्ती सिंहल द्वीप मे भिक्षुवृत्ति ग्रहण कर बौद्ध धर्म प्रचार करने जा रहे थे। महाराजकुमारी के दक्षिण हाथ मे बोधि वृक्ष की टहनी थी।

आकाश का प्रकाश और रंग घुल गया और धीरे-धीरे अंधकार ने चारो ओर से पृथ्वी को घेर लिया। बारहों मनुष्य चुपचाप अपना काम मुस्तैदी से कर रहे थे। क्वचित ही कोई शब्द मुख से निकलता हो, कदाचित वे भी अपने स्वामी की भांति भविष्य की चिन्ता मे मग्न थे। इसके सिवा उस अचल एकनिष्ठ व्यक्ति के साथ बातचीत करना सरल न था।

अन्तत. पीछे का भू-भाग शीघ्र ही गम्भीर अन्धकार में छिप गया। कुमारी संघमित्रा ने एक लम्बी सास खींच कर उधर से आखें फेर ली। एक बार बहन-भाई दोनो की दृष्टि मिली। इसके बाद महाकुमार ने उसकी ओर से दृष्टि फेर ली।

एक भिक्षु ने विनम्र स्वर मे कहा—'स्वामिन। क्या आप बहुत ही शोकातुर है?'

महेन्द्र ने उत्तर दिया—'क्यों नही, हम अपने पीछे जिन वनस्थली और दृश्यो को छोड़ आए है, अब उन्हे फिर देखने की इस जीवन मे क्या आशा है? और, अब आज जिन मनुष्यों से मिलने को हम जा रहे है, उनका हमे कुछ भी परिचय नही है। उनमें कौन हमारा सगा है? केवल अन्तरात्मा की एक बलवती प्रेरणा से प्रेरित होकर हम वहा जा रहे हैं।'

अन्य भिक्षु ने कहा—'आचार्य मोग्गलिपुत्र तिष्य की आज्ञा के विरुद्ध हममें से कौन निषेध कर सकता था। उन्ही की आज्ञा से ससागरा पृथ्वी के चक्रवर्ती सम्राट मगधाधिपति प्रियदर्शी महाराज अशोक के पुत्र महा-भट्टारक-पादीय महेन्द्र कुमार आप और महाराजकुमारी संघमित्रा देवी, राज-संतति, धर्मात्मा और त्यागी काषाय धारण कर सिंहल द्वीप में भिक्षु-वृत्ति ग्रहण कर धर्म-प्रचार के हेतु जा रहे है।'

आर्या संघमित्रा गहरा श्वास लेकर बोली—'अहा, क्षण-क्षण मे ये उपत्यकाएं और पर्वत-श्रेणिया दूर-अतिदूर होती जाती है। हमारे ये चिर-परिचित स्थल सदैव के लिए अपरिचित हो रहे है, वह पर्वत की रम्य स्थली, जहां हमारा घर था, हम बड़ी हुई और खेली, जहां से अब तक पृथक नहीं हुई थी और आज जा रही हूं। सुदूर अज्ञात देश को, जहां से लौटने की कोई आशा ही नही है।'

तीसरे भिक्षु ने मुस्कराकर कहा—'पर हम जब इस प्रकार खिन्न हैं

तो वहां चल ही क्यों रहे है ? अब भी लौटने का समय है।'

महेन्द्र ने कहा—'भिक्षुओ, जब मैंने इस यात्रा का संकल्प किया था, तब तुमने क्यों मेरे साथ चलने और भले-बुरे मे साथ देने का इतना हठ किया था, ऐसी क्या आपत्ति थी ?'

भिक्षु ने धीमे स्वर में उत्तर दिया – 'स्वामिन्, हम सब आपको प्यार करते थे।'

परन्तु अन्य भिक्षु ने हंसकर व्यंग्यपूर्वक कहा—'वाह, यह खूब उत्तर है। मैं स्वामी को प्यार करता हू, इसलिए उसकी जो आज्ञा होगी, वह मानूंगा। जहां वह जब ले जायगा, वहां जाऊंगा।'

तीसरे भिक्षु ने गम्भीरता से कहा—'किन्तु मै समझता हू कि मै उन अपरिचित मनुष्यों को भी प्यार करता हूं, जो इस असीम समुद्र के उस पार बसते है। जो आत्मा के गहन विषयो मे अनभिज्ञ है; जो तथागत के सिद्धांतो को नही जान पाए है, जो दुःख मे मग्न संसारी पुरुष है, मैं उन्हे प्यार करता हूं।'

दूसरा भिक्षु बोला—'मैं भी उन्हे प्यार करता हूं। तथागत की आज्ञा है कि सब पर अगाध करुणा करनी चाहिए। मेरा हृदय उनके प्रेम मे ओत-प्रोत है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि वे हमे बुला रहे है। चिरकाल से बुला रहे है।'

'आह, उन्हें हमारी आवश्यकता है। वे भवसागर मे डूब रहे है वे तथागत की ज्ञान-गरिमा से अज्ञात है, हम उन्हे प्रकाश दिखाने जा रहे है।'

'निस्सन्देह हमें कठिनाइयों और विपत्तियों का सामना करना पड़ेगा। हमारे पास रक्षा की कोई सामग्री नही है। शस्त्र भी नही है।'

महेन्द्र ने धीमे और गम्भीर स्वर में कहा—'अहिंसा का महास्त्र हमारे हाथ मे है, जो अन्त में सबमे अधिक शक्तिशाली है।'

यह धीमी और गम्भीर आवाज उस अंधकार को भेदन करके सब साथियों के कानो मे पड़ी। मानो सुन्दर पर्वत-श्रेणियों से टकराकर हठात उनके कानो मे घुस गई हो। बारहों मनुष्यों में सन्नाटा छा गया और सबने सिर झुका लिए। इन शब्दों की चमत्कारिक, मोहिनी शक्ति से सभी मोहित हो गए।

दो घण्टे व्यतीत हो गए। तरणी जल-तरंगों से आन्दोलित होती हुई उड़ी चली जा रही थी। राजनन्दिनी ने मौन भंग किया। कहा—'भाई, क्या मैं अकेली उस द्वीप की समस्त स्त्रियों को श्रेष्ठ धर्म सिखा सकूँगी?'

महाराजकुमार ने मृदुल स्वर में कहा—'आर्या संघमित्रा, यहाँ तुम्हारा भाई कौन है? क्या तथागत ने नहीं कहा है कि सभी सद्धर्मी भिक्षु-मात्र हैं?'

'फिर भी महाभट्टारकपादीय महाराजकुमार···।'

'भिक्षु न कहीं का महाराज है, न महाराजकुमार।'

'अच्छा भिक्षु श्रेष्ठ, क्या मैं वहाँ की स्त्रियों के उद्धार में अकेली समर्थ होऊँगी?'

'क्या तथागत अकेले न थे? कैसे उन्होंने जम्बूद्वीप में महाधर्म-क्रांति उत्पन्न कर दी थी। कैसे आधी पृथ्वी उनके चरणों में आ चुकी थी। कैसे महापण्डित महाकाश्यप जैसे ब्राह्मण और मगधपति बिम्बसार सार्वभौम उनके चरणों में नत हुए थे।'

'किन्तु भिक्षुवर, मैं अबला स्त्री···।'

'क्या तथागत की वाणी के प्रकाश से तुम्हारी आत्मा ओतप्रोत नहीं है।'

संघमित्रा ने धीरे से उत्तर दिया—'है तो।'

एक भिक्षु बीच में ही बोल उठा—'समुद्र की लहरें चट्टानों से टकरा रही हैं। क्या हम तीर के निकट आ गए हैं। हम निरन्तर ग्यारह दिन से चल रहे हैं। अब तो अन्धकार बढ़ता आ रहा है, समुद्र के जल का गहरा रंग हो गया है। किन्तु क्या सत्य ही भूमि निकट है?'

महेन्द्र ने सावधानी से इधर-उधर देखकर कहा—'हम मार्ग भटक गए हैं, भिक्षुओ। अवश्य ही निकट कोई जल गर्भस्थ चट्टान है, आप लोग सावधानी से तरणी का संचालन करें।'

यह कहकर वे खड़े होकर चारों ओर देखने लगे। इतने में ही एक चट्टान में नाव जा टकराई। कुमारी संघमित्रा औंधे मुंह गिर पड़ी और सब सामग्री अस्त-व्यस्त हो बिखर गई। नाव डगमग होकर एकाएक जल से बाहर निकल चट्टान पर टिक गई।

कुमार ने देखा, चट्टान जल से ऊपर है। वे उस पर कूद पड़े। खड़े होकर उन्होंने अनन्त जलराशि के चारों ओर देखा। इनके बाद उन्होंने साथियों से संकेत करके कहा—भय की कोई बात नहीं है भिक्षुओ। आओ, आज रात हम यहीं विश्राम करेंगे। प्रातःकाल क्या होता है, यह देखा जायेगा।

चौदहों साथी उस ऊबड़-खाबड सुनसान, क्षुद्र चट्टान पर बिना किसी छाह के फलाहार कर अपनी-अपनी कन्था का तकिया लगा सो रहे।

प्रातःकाल सूर्य की सुनहरी किरणें अनन्त जल राशि पर फैलकर रंग-बिरंगी शोभा धारण कर रही थीं। समुद्र की उज्ज्वल फेनराशि पर उनकी प्रभा एक अनिर्वचनीय सौंदर्य की सृष्टि कर रही थी। समुद्र शान्त था, जलचर जन्तु जहां-तहां सिर निकाले, निश्शंक, स्वच्छ वायु ले रहे थे। कुछ दूर पर छोटे-छोटे पक्षी मन्द कलरव करते उड़ रहे थे, वे नेत्र और कर्ण दोनों को ही सुखद थे।

महाकुमारी आर्या संघमित्रा चट्टान पर चढकर, सुदूर पूर्व दिशा में आख गाडकर कुछ देख रही थी। कुमार ने उसके निकट पहुंचकर कहा—'आर्या संघमित्रा, क्या देख रही हैं ?'

'भिक्षुवर, समुद्र शान्त है, समुद्र की उज्ज्वल राशि पर भगवान मरीचिमाली की सहस्र किरणें कैसे अनिर्वचनीय सौन्दर्य की सृष्टि कर रही हैं। देखो, जलजन्तु जहां-तहां सिर निकाले निःशंक, स्वच्छ वायु में सास ले रहे हैं, ये पक्षी धीरे-धीरे मन्द कलरव करते कैसे भले दीख रहे हैं। ये सब नेत्र और कानों को सुखद हैं। परन्तु प्राची दिशा में···।'

'प्राची दिशा में क्या ?'

'जिस पृथ्वी को हमने छोड़ा है, वह उधर ही है। अभी तो ग्यारह ही रातें हमने व्यतीत की हैं। पर ऐसा प्रतीत हो रहा है जैसे युग व्यतीत हो गया। हम माता पृथ्वी के दूसरे छोर पर आ गए।'

'पर अभी तो हमें और भी आगे अज्ञात प्रदेश को जाना है।'

'क्या वहां रहकर हम सद्धर्म प्रचार कर सकेंगे ? मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है, मानो प्रियजनों की दृष्टियां हमें बुला रही हैं। यह मैं स्पष्ट देख रही हूं। वहां, जहां पृथ्वी और आकाश मिलते दीख रहे हैं।'

'उस ओर प्राची दिशा मे ?'

'भाई, नहीं-नहीं, भिक्षुराज, चलो लौट चलें। घर लौट चलें। सद्धर्म प्रचार का अभी भी वहा बहुत क्षेत्र है।'

यह सुन महेन्द्र आगे बढ़े और कुमारी के मस्तक पर हाथ रखकर मन्द-शांत स्वर मे बोले—'शांत पापं, आर्या संघमित्रा, शांतं पापं। आर्या, हमने जिस महाव्रत की दीक्षा ली है, उसे प्राण रहते पूर्ण करना हमारा कर्तव्य है। सोचो तो हम असाधारण व्यक्ति हैं। हमारे पिता चक्रवर्ती सम्राट है। मै इस महाराज्य का उत्तराधिकारी हू। परन्तु मैं जहा भिक्षाटन के लिए जा रहा हूं, कदाचित वहा का राजा करद की भाति भेंट लेकर मेरे पास आता। परन्तु मैं उस प्रदेश की गली-गली मे एक ग्रास अन्न भिक्षा लूगा और बदले मे सद्धर्म का पवित्र रत्न दूगा।'

संघमित्रा ने नेत्रो मे जल भरकर कहा—'भाई मेरा हृदय विदीर्ण हो जाएगा।'

'आर्या संघमित्रा, क्या यह मेरे लिए और तुम्हारे लिए भी अलभ्य कीर्ति और सौभाग्य की बात नही है। क्या तथागत को छोड़कर और भी किसी सद्धर्मी ने यह किया था? तथागत की स्पर्धा करने का तो सौभाग्य आर्या संघमित्रा, भूत और भविष्य मे हमी दोनों जीवो को प्राप्त होगा। तुम्हे मुझसे भी अधिक। क्योकि सम्राट की कन्या होकर भिक्षुणी होना स्त्री जाति मे तुम्हारी समता नही रखता।'

'किन्तु ⋯'

'आर्या, इस सौभाग्य की अपेक्षा क्या राजवैभव अति प्रिय वस्तु है। सोचो, यह अधम शरीर और अनित्य जीवन जीवन जगत के प्राणियों का कैसा नष्ट हो रहा है। परन्तु हमें इसकी महाप्रतिष्ठा करने का सौभाग्य मिल रहा है। कदाचित भविष्यकाल में सहस्रो वर्षों तक हम लोगों की स्मृति श्रद्धा और सम्मान-सहित जीवित रहेगी।'

इतना कहकर कुमार मौन हुए। कुमारी धीरे-धीरे उनके चरणो मे झुक गई। उसने अपराधिनी शिष्या की भांति अपनी मानसिक दुर्बलता के लिए क्षमा याचना की—'हे ज्ञानी, आज से मेरा आपका सहोदर भ्रातृ सम्बन्ध समाप्त हुआ। मैं आपकी बद्धांजलि शरणागत शिष्या हूं। हे प्रभु,

मेरी मानसिक दुर्बलता आप दूर कीजिए।'

महेन्द्र ने उसका सिर स्पर्श करके कहा—'भगवति, तेरा कल्याण हो। समझ ले कि जो लौकिक एवं दिव्य काम-सुख मे आसक्त नही, वही धर्मज्ञ भिक्षु संसार का अतिक्रमण कर सम्यक परिव्राजक हो सकता है। समझ ले कि प्रिय और अप्रिय का त्याग करके जो सर्वत्र अनासक्त, अनाश्रित, तथा संयोजनो मे विमुक्त है, वही इस जगत मे सम्यक परिव्राजक है। समझ ले कि लोभ और आसक्ति को छोडकर जो वेदन-बन्धन मे विरत हो गया है, शंकाओ को पार कर गया है और जिसके हृदय से तृष्णा का शल्य निकल गया है, वही भिक्षु जगत मे सम्यक परिव्राजक है। समझ ले कि जिसके आस्रव क्षीण तथा अहंकार नष्ट हो गया है, जो काम-सुखो को लात मारकर संसार-समुद्र को पार कर गया है, जो दान्त-शान्त और स्थिरात्मा है, वही इस जगत मे सम्यक परिव्राजक है। समझ ले कि उपाधि को जो निस्तार समझता है, और ग्रहण करने मे जो छन्दराग का निरसन करता है, इस जगत में वही सम्यक परिव्राजक है। यह मैंने तुझे आज पाच रत्न दिए। उठ कल्याणी, इन रत्नो को संभाल और इनसे आत्मा का शृंगार कर।'

'मैं सम्पन्न हुई, मैं आप्यायित हुई। मै धन्य हुई। हे गुरु, मैं धर्म की शरण हू, संघ की शरण हू, सत्य की शरण हू।'

'कल्याण ! कल्याण !'

उन्नीस

नौका तैयार हुई और वह फिर लहरों की ताल पर नाचने लगी। बारहो माथी निस्तब्ध-से समुद्र की उत्तुग तरंगों में मानो उस क्षुद्र तरणी को घसाए लिये जा रहे थे। एक दिन और रात्रि की अविरल यात्रा के बाद

समुद्र-तट दिखाई दिया। उस समय धीरे-धीरे सूर्य डूब रहा था और उसका रक्त प्रतिबिंब जल में आन्दोलित हो रहा था।

समुद्र-तट की सिकता-भूमि पर घुटने टेककर चौदह भिक्षु यात्री अस्त-गत सूर्य की ओर मुख किए अधोमुख बैठे थे।

महेन्द्र ने कहा—'भिक्षुओ, हम अभीष्ट स्थान पर पहुंच गये हैं। आज से यह तट निर्वाण तट के नाम से पुकारा जाय।'

सब लोग उठे—'तथास्तु।'

महेन्द्र ने फिर कहा—'इस अपरिचित भूमि के कण-कण को सद्धर्म से सम्पन्न करना है। भिक्षुओ, इसके लिए हमें मन-वचन-कर्म से दृढ़ संयमी और उद्योगी बनना होगा। भिक्षुओ, क्या तुमने शकाओं का प्रवाह पार कर लिया है।'

सभी ने स्वीकृति दी—'हां प्रभु।'

'क्या तुमने तृष्णा का शल्य निकाल फेंका है?'

'हां प्रभु।'

'क्या तुमने लोभ-मात्सर्य-क्रोध और निंदा का सदा के लिए त्याग कर दिया है?'

'हां प्रभु।'

'तो भिक्षुओ, मैं तुम्हे तीन सम्पदाएं देता हूं—'

'तुम निर्वाण-पद को जानकर धर्म विवेचन करो, वे तुम्हे शंका-निवारक मार्ग-दर्शक मुनि कहेंगे। तुम संयमी, स्मृतिमान और निर्दोष रहकर जीवन शुद्ध रखो। वे तुम्हें मार्ग-जीवी भिक्षु कहकर सत्कृत करें। तुम काय-मन-वचन से संसार के सब लोगों को त्याग दोगे। वे तुम्हें उपशान्त मुनि कहकर तुम्हारी चरण-वन्दना करेंगे। आओ, आगे बढो।'

सबने चुपचाप सिर झुका लिया। तेरहों आत्माएं एक के बाद दूसरी, उस अपरिचित किनारे पर सदैव के लिए उतर पड़ी और प्रार्थना के लिए रेत में घुटनों के बल धरती में झुक गई।

वह राजवंशीय भिक्षु उस स्थान पर समुद्र-तट से और थोड़ा आगे बढ़-कर ठहर गया। उसके तेरहों साथी उसके अनुगत थे।

महेन्द्र ने कहा—'यही मनोरम स्थान है। ताल-तमाल हिन्ताल की

सघन छाया से सुशोभित यह वनश्री शान्त-सुखद और मनोरम है। यही हमारा विहार स्थापित होगा। देखो, तमाल पत्रों की ओट में अस्तगत सूर्य की स्वर्ण किरणें हमारा यहां स्वागत कर रही है। आर्या संघमित्रा आगे बढो और इस पवित्र भूमि पर अपना अक्षय वोधि वृक्ष स्थापित करो।'

संघमित्रा अस्तंगत सूर्य की ओर देख रही थी। वोली—'सूर्यदेव, अभी उस चिरपरिचित प्रभात में मैं एक अरविन्द कली थी। तुम्हारी स्वर्ण-किरण के सुखद स्पर्श से पुलकित होकर खिल पडी। मैं अपनी समस्त सुरभि से खिलकर दिन-भर निर्लज्ज की भांति देखती रही, तुम्हारी ऊर्ध्व गामिनी गति की ओर। और अव तुम जा रहे हो, देव, मेरी पूजा की उपेक्षा करके। जाते हो तो जाओ। मैं अपना समस्त सौरभ इस अपरिचित भूमि के रजकण में लुटाने आई हूं और अपनी आशा, आस्था और श्रद्धा के प्रतीक इस पवित्र वोधिवृक्ष को यहां आरोपित करती हू। साक्षी रहो सूर्य-देव, आज के इस पुण्य क्षण को।'

संघमित्रा ने आंचल मे बोधिवृक्ष की टहनी निकालकर यत्न से भूमि में आरोपित की। फिर भूमि पर मस्तक टेककर प्रणाम किया। उसके नेत्रों से अश्रुजल की दो बूंदें वोधि-वृक्ष पर गिरीं, यही उसका प्रथम सिंचन हुआ।

महेन्द्र वोले—'आर्या, संघमित्रा, यह क्षणभंगुर शरीर रोगो का घर है। जीवन का अन्त मरण है। कौन मूर्ख इस जरा जीर्ण शरीर से प्रीति जोड़ेगा। यह शरीर हड्डियों का गढ़ है। इसमे बुढापा, मृत्यु, अभिमान और डाह के अड्डे बने हैं। रात-दिन यह गर्वीला रूप पीले पत्ते की भाति जीर्ण-शीर्ण हो जायेगा। तुझे प्रयाण करना होगा पर पाथेय तेरे पास न होगा तो क्या होगा। इसलिए तू अभी से पाथेय इकट्ठा कर, प्रज्ञा का सहारा ले। मल धो डाल। दोप रहित हो जा और आर्यों का दुर्लभ दिव्यपद प्राप्त कर।'

'आर्य, मैं आपकी शरण हूं।'

'आर्या, शल्य तुम्हारे शरीर में चुभा है। तुम उससे पीड़ित हो वैठ जाओ। अप्रमाद और प्रज्ञा के सहारे अपने शरीर में चुभा तीक्ष्ण शल्य निकालो।'

संघमित्रा घुटनो के वल वैठकर वोली—'आर्य, मैं एकान्तचित ब्रह्मचर्य

पालन करूंगी।'

'आर्या, यही तुम्हारी सच्ची आत्म-शुद्धि है।'

'आर्या, मैं जान गई, अभिमान ईधन है, क्रोध धुआ है, मिथ्या-भाषण भस्म है, जिह्वा श्रुवा है, हृदय ज्योति-स्थान है। आत्मा का दमन करने ही पर पुरुष को अन्तर्ज्योति प्राप्त होती है।'

'आर्या, यही तुम्हारी सच्ची आत्म-शुद्धि है।'

'आर्य, अन्त शुद्धि न दृष्टि से न श्रुति से न ज्ञान से होती है। शीलव्रत पुरुष भी आध्यात्मिक शुद्धि नही दिला सकता।'

'आर्या, यह तुमने सत्य कहा, जब तक सम, विशेष और हीन का भाग बना रहेगा तब तक शुद्धि दुर्लभ है। जो वस्तु उत्पन्न हुई है, वह अनित्य है। इस बात को जो प्रज्ञा के चक्षु से देखता है, उसी की सच्ची चित्त-शुद्धि होती है।'

'आर्य, मै यह समझ गई।'

'आर्या, तुम्हे विमल विरज प्रज्ञा चक्षु प्राप्त हुआ। तुम सम्यक सबुद्ध हुई। भिक्षुओ, आर्या का अभिनन्दन करो।'

इन्द्रियो मे सयमी, आचार मे उत्कृष्ट।
शील मे प्राधान्य और उपकार मे सतुष्ट।
कथन मे सामर्थ्यमय सिद्धात मे सम्बुद्ध।
पक्ष निग्रह निपुण सम्यक वृद्ध आदर युक्त।
नम्र शुचि निर्दोष नित अभिमान मल से दूर।
धर्म जिज्ञासा सहित सद्भावना से पूर।

उसी स्थान को उन्होंने अपना आवास बनाया। पत्थर और गारा इकट्ठा करके उन्होंने विहार बनाना आरम्भ किया। धीरे-धीरे भवननिर्माण होने लगे और आस-पास की अर्ध-सभ्य जातियों में उसकी ख्याति होने लगी। झुड-के-झुड स्त्री-पुरुष इस सुन्दर, सभ्य, विनम्र तपस्वी के दर्शन करने को, उसका धर्म-सदेश और प्रेममय भाषण सुनने को आने लगे। इस पुरुष रत्न के सतेज स्वर, वलिष्ठ शरीर, निरालम्य स्वभाव, आनन्दमय और सतोषपूर्ण जीवन, दयालु प्रकृति ने उन सहस्रो अपरिचितों के हृदयो को जीत लिया। वे उसे प्राणों से अधिक प्यार करने लगे। उसके प्रभाव-

शाली भापण मे वे महाप्रभु बुद्ध की आत्मा को प्रत्यक्ष देखने लगे। उनके पुराने अन्धविश्वास-उपासनाएं-कुरीतियां इतनी शीघ्रता से दूर हो गई और वे अपने इस प्यारे गुरु के इतने पक्के अनुगामी हो गए कि उस प्रान्त-भर मे उसकी चर्चा होने लगी, और शीघ्र ही वह स्थान टापू भर में विख्यात हो गया और वहा नित्य मेला रहने लगा।

धीरे-धीरे वह वन्य प्रदेश विशाल अट्टालिकाओ से परिपूर्ण हो गया। अब वह एक वहां का प्रसिद्ध सिंहल का बोधि विहार था और उसमे केवल वही चौदह भिक्षु न थे, किन्तु सैकड़ो भिक्षु-भिक्षुणिया थी जो जगत के सभी स्वार्थों और सुखों को त्याग कर पवित्र और त्यागपूर्ण जीवन व्यतीत करने लगी थी।

समुद्र की लहरें किनारों पर टकराकर उनके परिजनो की आनन्द ध्वनि की प्रतिध्वनि करती थीं और उन महात्मा राजपुत्र और राजपुत्री एवं उनके साहसी साथियो को उत्साह दिलाती थी और अब उनके मन मे कोई खेद न था। वे सब अति प्रफुल्लित हो अपने कर्तव्य का पालन कर रहे थे।

बीस

अनुराधापुर तथा उपनगरों मे ग्रामीण कृषक और वृद्ध मुखिया लोग परस्पर बातचीत मे उन भिक्षुओ की चर्चा करने लगे।

वे कुल चौदह है, एक स्त्री और तेरह पुरुष।

क्या उनके पास शस्त्र है?

वे कहते है, क्षमा हमारा शस्त्र है, और प्रेम हमारी ढाल। भूत-दया हमारे धनुप-बाण हैं।

यह तो एकदम अद्भुत है। इन शस्त्रों से कैसे वे शत्रुओं को वशवर्ती

करते हैं।

यह तो मैं कहता हू। उन्होंने बहुतो को अपना अनुगत कर लिया है। सभी गावो के मुखिया और टापू भर के स्त्री-पुरुष आबाल वृद्ध ठठ के ठठ वहा जाते है। वे सब उनसे डरते नही है। धनुर्धारी धनुष त्याग कर जाते है। खड्गधारी खड्ग त्यागकर, वह उनकी बताई विधि से उन्हे प्रणाम करके उकड़ू बैठ उनके आदेश सुनते हैं। वे आदेश अपने घर पर आकर वे पालन करते है।

ग्रामीणो की बाते सुन मुखिया ने पूछा—'क्या हममें से भी कोई वहा गया है?'

एक ग्रामीण बोला—'मैं गया था दादा। उनमे जो गौर वर्ण का स्वस्थ तरुण है, उसने मुझे बन्धु की भाति हंसकर बैठाया।'

'फिर?'

'उसने मुझसे पूछा—तेरा वैरी कौन है?'

'तैने क्या कहा?'

'मेरे बहुत वैरी है, मैंने सब के नाम बता दिए।'

'फिर।'

उसने कहा—'तू इस सबको जीतना चाहता है?'

मैंने कहा—'चाहता हूं। पर वे बहुत सबल है।'

'फिर।'

उसने कहा—'तेरा एक और वैरी है, तू उसे जीत ले तो सबको जीत लेगा।'

'वह वैरी कौन है?'

उसने बताया—'तू स्वयं ही अपना सबसे बड़ा वैरी है।'

'अरे रे रे, यह कैसी बात?'

उसने कहा—'तेरे भीतर का वह वैरी तुझे सदा सताता है, जब तू सोता है, तो सुख से सोने नही देता, खाता है तो खाने नही देता, तुझे बदला लेने को उकसाता है। और जब तू उनसे बदला लेने जाता है तो वह छिप जाता है—तेरी पराजय होती है, तू दुःखी होता है।'

'पर वह वैरी…।'

उसने कहा—'तू ही अपना सबसे बड़ा वैरी है। द्वेष और ईर्ष्या तेरे मन में है। उन्हें त्याग दे। तू अपने वैरी पर प्यार कर, उन्हें अपने ही समान जान, जैसे तू अपने से नहीं डरता, उनसे भी मत डर। शस्त्रहीन होकर उनके पास जा। और कह कि मैं तुम्हें प्यार करने आया हूं।'

'यह तो अद्भुत बात है। सो तू गया?'

'मैं गया।'

'शस्त्र ले गया था?'

'सब छोड़ गया था।'

'उन्होंने तुझे बांधा नहीं, तेरा वध नहीं किया?'

'मैं वहां निरस्त्र गया, तो उन्होंने मुझे पकड़ लिया। मैंने कहा—'मित्रो, मैं तुम्हें प्यार करने आया हूं। क्षमा हमारा शस्त्र है, प्रेम हमारी ढाल और भूत-दया धनुष-बाण। ये शस्त्र मुझे देकर हमारे नये गुरु ने मुझे तुम्हारे पास भेजा है। अब मैं तुम्हारे अधीन हूं।'

'उन्होंने इस पर क्या कहा?'

एक ने कहा—'इसे अब छोड़ो मत, मार डालो। पुराना वैरी बहुत दिन में हाथ में आया है।' दूसरे ने कहा—'बांधकर अन्धकूप में डाल दो।' तीसरे ने कहा—'नहीं मुखिया के पास ले चलो।'

'तब? तब?'

'तब वह मुझे अपने मुखिया के पास ले गये। सब बात सुनकर उसने पूछा—अब मैं तुझे मरवा दूं तो तू क्या करेगा?'

मैंने कहा—'जो मेरा वध करने आयेगा उसे क्षमा करूंगा।'

उसने कहा—'और तुझे बांधकर अन्धकूप में डाल दूं तब क्या करेगा।'

मैंने वही उत्तर दिया—'मैं तुम सबको प्यार करता हूं। जैसा अपने आपको प्यार करता हूं।'

'इस पर मुखिया क्या बोला?'

वह चुपचाप सोचता रहा। फिर उसने कहा—'तब तो तूने हमें जीत लिया। तू वीर पुरुष है, तुझे हम भी प्यार करते हैं। उसने मुझे साथ बैठा कर भोजन कराया। फिर वे सब मेरे साथ मेरे उसी गुरु के पास गए। और वे सब उसके चेले हो गए।'

'ये सब तो बडी ही अद्भुत बातें हैं। तेरा वह गुरु हमारी कुल देवी को मानता है ?'

'नही मानता ।'

'क्या वह नाग-देवता की पूजा करता है ?'

'नही करता ।'

'मृतक आत्माओ को भोजन देता है ?'

'नही देता ।'

'भूत-प्रेतों को बलि देता है ?'

'नही देता ।'

'तो वह क्या कहता है ?'

'सब प्राणियो को अपने ही समान समझो। पराए दुःख को अपना दु.ख समझो। अपने जीवन को पवित्र बनाओ। लोभ, मोह, काम, क्रोध से वशीभूत न हो, यही कहता है।'

'क्या उसका कोई बड़ा गुरु भी है ?'

वह कहता है—'तथागत गुरुओ का गुरु है। उसका निर्वाण हो गया है।'

'उसकी बातें सुनने योग्य हैं ?'

'बहुत लोग उसकी बात सुनने जाते हैं। उसके साथी ग्रामो मे जाते है, रोगियो की चिकित्सा करते है।'

'क्या वे रोग के मन्त्र जानते हैं ?'

'नहीं, वे उन्हे औषधि देकर चंगा करते है। बहुत जनो को उन्होंने चगा किया है। भूखो को वह अन्न देते हैं। स्वयं भी वह भिक्षाटन करते हैं। वे मास नही खाते।'

'हम भी उसे देखने चलेंगे। सारा ग्राम चले।'

'स्त्रियां भी चलें। वहा एक स्त्री है।'

'स्त्री वहा क्या करती है ?'

'वह हमारे बच्चो को गोद मे लेकर खिलाती है। उन्हे प्यार करती है। बहुत स्त्रियां उससे बात करने जाती हैं। वह उन सबको उनकी भलाई की राह बताती है। वह सबको पवित्र जीवन और परिश्रम का उपदेश देती

है।'

'तो कल सारा ही ग्राम—स्त्री, पुरुष, बालक सभी उस गुरु की सेवा में चलो।'

इक्कीस

अर्द्ध रात्रि थी, सिंहल के बोधि विहार में सर्वत्र सन्नाटा था। भिक्षु और भिक्षुणियां शांत निद्राग्रस्त थी, परन्तु एक-दो आरामिक जग रहे है। प्रहरी मुख्य द्वार पर ऊंघ रहे थे। अकस्मात् अर्द्धसभ्य जाति के कुछ लोगों ने विहार पर आक्रमण किया। अग्निबाण आ-आकर विहार की छतों पर, छप्परों में फंस गए जिससे छतों मे, छप्परों मे आग लग गई। प्रहरी और आरामिकों ने आक्रमणकारियो का विरोध किया। शस्त्रों की झनकार, अचानक सोकर उठे हुओं की चीत्कार, प्रहरियो की ललकार की ध्वनि वायुमण्डल में फैल गई। भिक्षु-भिक्षुणियाँ आग बुझाने को दौड़ पड़े। स्थविर महेन्द्र और आर्या सघमित्रा रोगियों, असहायों की रक्षा में व्यस्त हो गए। अन्ततः आरामिक और प्रहरियों के प्रयत्न से आततायी भाग गए। केवल एक आततायी पकड़ा गया। आरामिक उसे बाधकर स्थविर महेन्द्र के सम्मुख ले आए।

आरामिक ने निवेदन किया—'यह आततायियो का प्रमुख है भन्ते, यही आज्ञाएं दे रहा था, इसी ने विहार में अग्निदाह किया है। इसी ने निर्दोष विहारवासियों का वध किया है।'

महेन्द्र ने कहा—'किन्तु यह तो आहत है।'

'हमने कठिन संघर्ष ने इसे पकड़ा है भन्ते। अपने ही दोष से यह आहत हुआ है।'

'तो भद्र, इसे शयनासन दे, भैषज्य दे।'

'भन्ते, यह दुर्दान्त डाकू है, आततायी, इसने भीषण अपराध किया है।'

आर्या संघमित्रा कुछ उपचारिका भिक्षुणियों सहित उधर आ निकली। उन्होंने उसे देखकर पूछा—'कौन है यह?'

आरामिक ने बताया—'डाकू है, आततायी है भद्रे।'

आर्या से महेन्द्र बोले—'आहत है, पीड़ित है। इसे शयनासन दो, भैषज्य दो आर्ये।'

संघमित्रा ने भिक्षुणी उपचारिकाओं से कहा—'आर्याओ भैषज्य लाओ। ग्लानि-प्रत्यय लाओ।'

आरामिक ने फिर कहा—'आर्य, वह आततायी, डाकू है।'

संघमित्रा बोली—'परन्तु यह आहत है, पीडित है।'

उपचारिका ने भैषज्य लेकर कहा—'भद्रे, यह भैषज्य है, ग्लानि-प्रत्यय है।'

'बन्धन खोल दो भद्र।'

आरामिक ने पुन: निवेदन किया—'आर्ये, यह घातक चोट करेगा।'

परन्तु संघमित्रा ने उसकी बात पर ध्यान न देकर उपचारिका से कहा—'भैषज्य दे, आसन दे।'

संघमित्रा ने डाकू के बंधन खोलकर उसे बिछौने पर लिटाकर कहा—'सुख से सो भद्र।'

डाकू ने पूछा—'मैं, मैं, मैं।'

'तू आहत है, पीडित है।' यह कहकर संघमित्रा ने उपचारिका की सहायता से उसका घाव धोकर औषध लेपकर पट्टी बाध दी।

आरामिक ने फिर विवेदन किया—'आर्या यह घात पाकर भाग जाएगा, या आक्रमण करेगा।'

संघमित्रा ने कुछ भी चिन्ता प्रकट न कर दूध का पात्र डाकू के होंठों से लगाकर कहा—'पी भद्र, लाभ होगा। बल मिलेगा। तू सो भद्र। निश्चिन्त विश्राम कर।'

यह कह कर वह उपचारिकाओं आर्याओं को साथ लेकर अन्य आहत और पीड़ितों की सुश्रूषा के लिए वहा से चल दी।

कुछ भिक्षुओं ने आकर महेन्द्र से कहा—'भन्ते, आग बुझा दी गई। अब हम क्या करें ?'

महेन्द्र गम्भीर मुद्रा में थे। बोले—'मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा इन चार मनोवृत्तियों को 'ब्रह्म-विहार' कहते हैं। मैत्रीपूर्ण चित्त करुणापूर्ण चित्त से, मुदितापूर्ण चित्त से और उपेक्षापूर्ण चित्त से जो भिक्षु दिशाओं को व्याप्त कर देता है, सर्वत्र, सर्वोत्तम स्वरूप होकर समस्त जगत को अबैर और अद्वेपमय चित्त से भर देता है, वही 'ब्रह्म-प्राप्त' भिक्षु है। जाओ भद्रो, आहतों को भैषज्य दो, पीडितों को शयनासन दो, ग्लानि-प्रत्यय दो। वहां आर्या संघमित्रा पीड़ितों की सेवारत हैं।'

'अच्छा भन्ते।' कह कर वे चले गए।

आरामिक ने पूछा—'अब हम क्या करें भन्ते ?'

महेन्द्र ने उन्हें भी यही कहा—'जो आहत है, पीडित हैं, उन्हें भैषज्य दो। शयनासन दो, ग्लानि-प्रत्यय दो।'

'अच्छा स्वामी।'

महेन्द्र ने डाकू के सिर पर हाथ रखकर प्रेमार्द्र स्वर में कहा—'मैत्री चित्त-विमुक्ति की प्रेमपूर्वक इच्छा करने से, भावना करने से, अभिवृद्ध करने से, स्थापना करने से, उसका अनुष्ठान करने से, उसे उत्साहपूर्वक अंगीकार करने से, मनुष्य को ग्यारह लाभ होते हैं—वह सुखपूर्वक सोता है, सुख से जागता है, बुरे स्वप्न नही देखता है, सबका प्रिय होता है, भूत पिशाचो का भय नही रहता, देवता उसकी रक्षा करते हैं। अग्नि-विष, हथियार उस पर असर नहीं करते। चित्त का तुरन्त समाधान हो जाता है। मुख की कान्ति अच्छी रहती है, शान्ति से मरता है। और निर्वाण न भी मिले, तो भी मृत्यु के पश्चात वह ब्रह्मलोक को जाता है। सुखपूर्वक सो भद्र, और सुख से जाग।'

इतना कह वे वहा से चल दिए। डाकू की आंखो में आसू की धारा वह चली।

प्रभात होने पर बोधि विहार के प्रहरी से एक भिक्षु ने पूछा—'वह डाकू भागा नहीं ?'

प्रश्न का उत्तर दिया दूसरे भिक्षु ने, जो उनके ही समीप खडा था—

'कहा, वह तो तभी से रो रहा है।'

'क्या, पीड़ा से ?'

'नहीं रे, पश्चात्ताप से।'

'स्वामी की आज्ञा है कि उसे सुरक्षित उसके आवास पर हम पहुंचा दें।'

'और यदि वह हमीं पर आक्रमण करे ?'

'तो हम निरुपाय हैं। हमें तो स्वामी का अनुशासन है—क्रोध को अक्रोध से, प्रहार को क्षमा से जीतो।'

'वह सम्मुख अश्वत्थ की छाया में बैठा है।'

दोनों भिक्षु आगे बढ़कर उसके निकट आकर खड़े हो गए।

एक भिक्षु ने पूछा—'अरे भद्र, तू बन्धन-मुक्त है, तू भागा नहीं।'

डाकू ने उत्तर दिया—'नहीं, भन्ते।'

'आश्चर्य है। तुझे किसने रोका भद्र ?'

'मेरे मन ने भन्ते।'

'तू स्वतन्त्र है, स्वेच्छा से जा। तुझे ग्लानि-प्रत्यय मिला ?'

'मिल गया भन्ते।'

'तो चल भद्र, हम निरापद तुझे तेरे घर पहुंचा दें। तू चल सकता है या हम पर कंधे पर ले चलें ?'

'चल सकता हूं भन्ते।'

'तो चल भद्र, स्वामी की आज्ञा है।'

'मुझे स्वामी की सेवा में ले चलो भन्ते।'

'क्यों ? किसलिए ?'

'शरणापन्न होने के लिए।'

महेन्द्र स्थविर अनेक भिक्षुओं सहित उधर ही आ रहे थे। दोनों भिक्षुओं ने उन्हें प्रणाम किया। महेन्द्र ने डाकू के समीप आकर मुस्करा कर पूछा—'कह भद्र, सुख से तो सोया ? सुख से तो जागा ?'

'हां भन्ते।'

'ग्लानि-प्रत्यय मिला ?'

'हां भन्ते।'

'तो जा भद्र, अपने घर जा। तेरा कल्याण हो। ये दोनों भिक्षु निरापद तुझे तेरे घर पहुंचा देंगे।'

'भन्ते भगवन्, मैं बद्धांजलि धर्म की शरण होता हूं। मुझे प्रव्रज्या मिले, उपसम्पदा मिले।'

'भद्र, विचारपूर्वक किए कर्मों का फल बिना भोगे नष्ट नही होता। इस लोक मे या परलोक मे। यह तूने समझ लिया भद्र।'

'समझ लिया भन्ते।'

'इन कर्मों को जाने बिना दुःख नष्ट नहीं होता। यह भी तू जान।'

'जान गया भन्ते।'

'लोभ से, द्वेष से और मोह से विमुक्त होकर सचेत अन्त करण के द्वारा मैत्रीयुक्त चित्त से, करुणायुक्त चित्त से, मुदितायुक्त चित्त से, और उपेक्षायुक्त चित्त से, जो चारों दिशाओं को अभिव्याप्त कर देता है, वह अखिल जगत को अवैर-द्वेष-रहित और मैत्री महगत चित्त से अभिव्याप्त करता है।'

'समझ गया भन्ते।'

'तो यह भी समझ गया कि पूर्व मे इन भावनाओं के न करने से तेरा चित्त संकुचित था, इस मैत्री भावना से, करुणा भावना से, मुदिता भावना से, उपेक्षा भावना से—यह असीम और अनन्त हो गया है।'

'समझ गया भन्ते। समझ गया।'

'तो भद्र, जो मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा चित्त विमुक्ति की भावना करता है, उसके हाथ से पापकर्म नही हो सकता। जो पाप नही करेगा, उसे दुःख क्यो होगा?'

यह सुन डाकू भाव विह्वल हो गया। उसके नेत्रों मे आंसू छलक आए। वह बोला—'नहीं होगा भगवन, नही होगा। अहा, मैं सुखी हुआ। दु ख से मेरा परित्राण हुआ। अहो सुख, अहो सुख, अहो सुख।'

'तो बैठ भद्र, तुझे विमल-विरज ज्ञान-चक्षु मिला। मैं तुझे उप-सम्पदा देता हूं, प्रव्रज्या देता हूं।'

डाकू उकड़ू बैठ गया, महेन्द्र पवित्र जल उसके मस्तक पर छिड़ककर बोले—'कह—बुद्ध शरण गच्छामि। संघं शरणं गच्छामि। सत्यं शरणं

गच्छामि।'

डाकू ने तीनो वाक्य धीरे-धीरे उच्चारण कर दिए।

महेन्द्र बोले—'अब जा भद्र, आज से तेरा नाम धर्मपाल भिक्षु हुआ।'

'भिक्षुओ। विमल-विरज-चक्षु भिक्षु धर्मपाल का अभिनन्दन करो।'

सब भिक्षु आनन्द ध्वनि कर उसे ले चले।

अनुराधापुर के महाराज तिष्य राज्यसभा मे सभासदो के बीच सिंहासन पर विराजमान थे। मन्त्री और सभासद अपने-अपने स्थान पर आसनो पर बैठे थे, चंवरवाहिनिया चवर डुला रही थी, और राजसेवक अपने-अपने स्थान पर खडे थे।

मत्री ने हाथ बाधकर निवेदन किया—'महाराज, सिंहल में कुछ तेजस्वी धर्मात्मा पुरुष धर्मजय की कामना से आए है। इन्होने समुद्र-तट पर अपना विशाल भव्य विहार स्थापित किया है। अब वह वन्य प्रदेश विशाल अट्टालिकाओ से परिपूर्ण हो गया है। सिंहल के अनेक जन उनके अनुगत हो गए हैं। उनमे से बहुतों ने वही अपने ग्राम बसा लिए है। आस-पास के अर्ध सभ्यजनों के झुण्ड के झुण्ड उनके दर्शनों तथा पुण्य वचनामृत का पालन करने वहा जाते हैं। सम्पूर्ण सिंघल द्वीप में इन धर्मपुरुषो की कीर्ति फैल रही है।'

यह सुन राजा ने कहा—'ऐसा ही हमने सुना है। हमने सुना है कि उनका नेता भारत के चक्रवर्ती, ससागरा पृथ्वी के अधिपति धर्मात्मा अशोक का पुत्र है।'

मंत्री ने उत्तर दिया—'केवल वह सौम्य राजकुमार ही नही, चक्रवर्ती की प्रिय राजकुमारी भी काषाय धारण कर धर्म-विजय के लिए इस अभियान मे सिहल मे आई है।'

'यह उनकी धर्म-विजय कैसी है?'

'सेवा और प्रेम ही उनके शस्त्र हैं।'

'उनके साथ सेना और राज-परिच्छद कितना है?'

'महाराज, राज-संतति-युगल अपने बारह साथियो सहित, नंगे पैर भिक्षा-पात्र लेकर ग्राम-विचरण करते हैं, भैक्ष्य-वृत्ति उन्होंने ग्रहण की है।'

'क्या वे इतने दीन-हीन हैं?'

बाईस

अनेक अर्धसभ्य सिंहल के ग्रामीण, कृषक और अनुराधापुर के भावुक नागरिक विहार मे आते रहते थे। आने-जाने वालों का ताता लगा रहता था। आर्या संघमित्रा नई सिंहाली शिष्याओ के साथ आगन्तुकों की परिचर्या मे प्रसन्न मन सलग्न रहती, और भिक्षुराज महेन्द्र शान्त मुद्रा मे आसन पर बैठे उपदेश देते रहते। अनेक स्त्री, पुरुष, बालक उन्हे घेरकर उनका वचनामृत ले आनन्दित होते थे।

एक राज्य मंत्री ने महेन्द्र को साष्टाग प्रणाम करके निवेदन किया—'धर्मदूत प्रसन्न हो। मैं राज्य मंत्री आपका दास, अनुराधापुर से महाराज तिष्य का सदेश निवेदन करने सेवा मे उपस्थित हुआ हूँ। हमारे महाराज ने अधीनतापूर्वक यह तुच्छ उपानय आपकी सेवा में भेजकर निवेदन किया है कि पवित्र स्वामी अनुचरो-सहित राजमहालय मे पधारकर राज-भवन को सुशोभित करें।'

राजमंत्री का सकेत पाकर अनेक राज सेवको ने विविध सामग्री से भरे सौ स्वर्ण थाल भिक्षुराज के सम्मुख रख दिए।

राजमंत्री करबद्ध हो कहने लगा—'स्वामी की सवारी के लिए हमारे महाराज ने छत्र-चवर सहित सौ हाथी, सौ रथ और दो सौ पादातिक और विविध यान भेजे हैं। आगे जैसी स्वामी की आज्ञा।'

यह सुन महेन्द्र मृदु मुस्कान से बोले—'मंत्रीप्रवर, सिंहल के महाराज तिष्य का कल्याण हो। उनकी अनुकम्पा और उदारता प्रशंसनीय है। परन्तु मंत्रीवर, हम भिक्षुओ के भिक्षा पात्र मे तो दो मुट्ठी अन्न ही के लिए स्थान है, उसमे यह राज-सामग्री कहा समाएगी। फिर मेरे जैसे भिक्षु को उसकी क्या आवश्यकता है। तुम इन्हे लौटा ले जाओ। महाराज तिष्य से कहना हम आते हैं।

'स्वामी की जैसी आज्ञा हुई। परन्तु राजवाहन, राजकीय रथ।'

'वह सब लौटा ले जाओ मंत्रीप्रवर, हम परिव्राजक भिक्षु तो भिक्षा पात्र हाथ मे ले, पाँव-प्यादे ही विचरण करने के अभ्यस्त है। शीघ्र ही राजद्वार पर हमारी भिक्षा होगी।'

'भगवन, राजधानी यहा से दूर है। मार्ग मे यात्रा की सुविधाए नही हैं।'

'परिव्राजक के लिए दूर-निकट का भेद नही मंत्री-प्रवर।'

'राह मे दुर्गम वन हैं, वन मे हिंसक जंतु हैं, दस्युओं का भी भय है। आहार और जल का भी नितांत अभाव है।'

'ऊपर-नीचे चारों ओर अथवा मध्य मे जितने दु:खकारक कर्म हैं, उन्हे त्याग जो विचारपूर्वक बर्तता है, जिसने माया-मोह, मान-क्रोध, और नाम-रूप को नष्ट कर दिया, उस पूर्णत्व-प्राप्त परिव्राजक को न कुछ दुर्गम है, न दस्यु और हिंस्र पशु ही उसकी कुछ हानि कर सकते है।'

'स्वामिन, राह मे अगम पर्वत-शृंग हैं। जिनमे राह नही मिलती। जल और वृक्ष-रहित रेगिस्तान है। भयंकर खार और ऊबड़-खाबड जगल हैं। आहार का वहां अत्यन्त अभाव है।'

'मंत्री-प्रवर, हमारे प्रत्येक के कन्धे पर आवश्यक सामग्री और हाथ मे भिक्षा-पात्र होगा। वह यथेष्ट है।'

'तो स्वामी की सेवक को क्या आज्ञा है?'

'महाराज तिष्य का कल्याण हो। हम शीघ्र ही राजधानी पहुँचेंगे। आप इस सब रथ-अश्व-वाहन और सामग्री को ले जाइए।'

महेन्द्र ने यह कहा और उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही अपने आसन पर आ बैठे। *राज्यवर्ग अपनी तमाम सामग्री सहित वापस लौट गया।*

राजधानी वहा से दूर थी और यात्रा की कोई भी सुविधा न थी, परन्तु उस द्वीप के राजा तिष्य को सद्धर्म का संदेश सुनाना परमावश्यक था। द्वीप-भर मे बौद्ध सिद्धान्तों की व्याप्ति होनी आवश्यक थी।

महाकुमार ने तैयारी की। कुमार और बारहो साथी तैयार हो गए और यह दुर्गम यात्रा प्रारम्भ की गई। प्रत्येक के कन्धे पर उनकी आवश्यक सामग्री और हाथ मे भिक्षा पात्र था। वे चलते ही चले गए। पर्वतों की चोटियों पर चढ़े। घने, हिंस्र जतुओं से परिपूर्ण वन में घुसे। वृक्ष और जल से रहित रेगिस्तान मे होकर गुजरे। अनेक भयंकर खार और ऊबड-खाबड जगल, पेचीली जगली नदियां उन्हे पार करनी पडी। अन्त में राजधानी निकट आई।

राजा अन्ध-विश्वासों से परिपूर्ण वातावरण में था। सैंकड़ों जादूगर, मूर्ख, पाखण्डी उसे घेरे रहते थे। उन्होंने उसे भयभीत कर दिया कि यदि वह उन भिक्षु यात्रियों से मिलेगा तो उस पर देवों का कोप होगा, और वह तत्काल मर जाएगा। परन्तु उसने सुन रखा था कि आगन्तुक चक्रवर्ती सम्राट अशोक के पुत्र और पुत्री हैं। उसमें सम्राट को अप्रसन्न करने की सामर्थ्य न थी। उसने उनके स्वागत का बहुत अधिक आयोजन किया।

राजा, राज-परिजन, अमात्य और नगर पौरजन सभी धर्मदूत महेन्द्र की अभ्यर्थना के लिए नगर-द्वार पर उपस्थित थे।

राजा ने मंत्री से कहा—'देखो, इन राज अतिथियों को कोई असुविधा न हो, क्योंकि आगतुक राज-अतिथि हैं। वे जम्बूद्वीप के चक्रवर्ती धर्मराज सम्राट अशोक के पुत्र-पुत्री हैं। उनका स्वागत-सत्कार यथावत होना चाहिए।'

'ऐसा ही हुआ है महाराज।'

'तो क्या सचमुच इन राज-संतति-युगल के साथ सेना, परिच्छद है ही नहीं?'

'महाराज, राज-अतिथि धर्मदूत हैं। उन्हें सेना से क्या? उन्होंने तो हमारी भेंट, उपानय और वाहन तक स्वीकार नहीं किए।'

'तो क्या उन्हें अपने राजकुल का इतना गर्व है?'

'नहीं महाराज, यह उनकी धर्म-विजय है।'

'तब तो यह अद्‌भुत है।'

इसी समय उन्हें सम्मुख धर्मदूत महेन्द्र और आर्या संघमित्रा अपने बारह भिक्षुओं सहित आते दिखाई दिए।

राजा ने धीरे से कहा—'अहा, इस राजकुमार के सिर पर मुकुट भी नहीं, न कानों में कुंडल हैं। पर मुख कांति से देदीप्यमान हो रहा है।'

उनके समीप आ जाने पर राजा राजवर्गी-जनों सहित आगे अभ्यर्थना के लिए बढ़ा।

महेन्द्र ने दोनों हाथ ऊंचे करके कहा—'कल्याण! कल्याण!!'

हठात राजा उनके चरणों में गिर गया। समस्त दरबार के सम्भ्रान्त पुरुष भी भूमि पर लोटने लगे।

राजा बोला—'हे धर्मदूत, मैं आपका अनुराधापुर मे स्वागत करता हूं।'

'स्वस्ति राजन, क्षमा हमारा शस्त्र है और दया हमारी सेना है। हम इसी राजबल से पृथ्वी की शक्तियो को विजय करते हैं। हम त्याग-तप-दया और सद्भावना से आत्मा का शृंगार करते हैं। हे राजन, हम अपनी यह समस्त विभूतिया आपको देने आए हैं। आप इन्हे ग्रहण कर कृतकृत्य हूजिए।'

राजा ने बद्धांजलि हो उत्तर दिया—'और केवल ये विभूतिया ही आपके इस पवित्र जीवन का कारण है।'

'हां राजन।'

'और इन्ही को पाकर आप भिक्षावृत्ति में सुखी है। पैदल यात्रा के कष्टों को सहन करते है। तपस्वी जीवन से शरीर को कष्ट देने पर भी प्रफुल्लित है।'

'हा, इन्ही को पाकर।'

'इन्ही को पाकर आपने मेरा राज-उपानय और वाहन, परिच्छद राज-सत्कार सभी को लौटा दिया।'

'हा राजन, इन्ही को पाकर।'

'हे स्वामी, वे महाविभूतियां मुझे दीजिए, जिससे मैं इस लोक मे और परलोक मे धन्य होऊं। मैं आपका अनुगत शरणागत हूं।'

महेन्द्र ने आगे बढ़कर कहा—'राजन, सावधान होकर बैठ जा।'

राजा घुटनो के बल धरती पर बैठ गया। उसका मस्तक महेन्द्र के चरणो में झुक गया।

महेन्द्र ने पवित्र जल कमण्डल से लेकर राजा के मस्तक पर छिड़क दिया और बोले—

बुद्धं सरणं गच्छामि।
संघं सरणं गच्छामि।
सत्यं सरणं गच्छामि।

राजा ने दोहराया—

बुद्धं सरणं गच्छामि।
संघं सरणं गच्छामि।

सत्य मरण गच्छामि।

तब महेन्द्र ने अपने शुभ हस्त राजा के मस्तक पर रखकर कहा—'उठ राजन, तेरा कल्याण हो गया। तू प्रियदर्शी सम्राट का प्यारा सद्धर्मी और तथागत का अनुगामी हो गया।'

इतना कहकर वे चार कदम पीछे हट गए और राजा की ओर बिना देखे ही अपने निवास की ओर लौट गए। नगर-निवासी और राजप्रमुख निश्चल अवाक उन्हें देखते रह गए।

उन धर्मदूतों के लिए राजमहल में एक विशाल भवन निर्माण कराया गया था, और उसमें श्वेत चदोवा ताना गया था, जो पुष्पों से सजाया गया था। महाकुमार ने वहां बैठकर अपने साथियों के साथ भोजन किया और तीन वार राज परिवार को उपदेश दिया।

सध्या का समय हुआ और भिक्षु मण्डली पर्वत की ओर जाने को उद्यत हुई। महाराज तिष्य ने आकर विनीत भाव से कहा—'पर्वत बहुत दूर है और अति विलम्ब हो गया है, सूर्य छिप रहा है, अतः कृपा कर नन्दन उपवन में ही विश्राम करें।'

महाकुमार सहमत हुए और नन्दन उपवन में उनका आसन जमा, परंतु अगले दिन वे मिश्रक पर्वत पर अम्बस्थल में विहार करने चले गए।

एक दिन प्रात.काल राजा तिष्य राज-अमात्य, राजपरिवार और चालीस सहस्र परिजनों सहित मिश्रक पर्वत आए। उनकी धूमधाम और कोलाहल से विहार की शांति भग होने लगी।

महेन्द्र ने श्रामनेर सुमन से पूछा—'यह कैसा कोलाहल है। इस शांत मनोरम अम्बस्थल में भीड़-भाड़ कैसी?'

श्रामनेर ने निवेदन किया—'आर्य, आज ताम्रपर्णी में ज्येष्ठ मूल नक्षत्र है। इसी से सिंहल के राजा तिष्य, राजपरिजन, अमात्यवर्ग और पौरजनों सहित आर्य के दर्शनार्थ आये है।'

'तो भद्र, आम्र वृक्ष के नीचे आसन बिछा।'

'जैसी आज्ञा।'

महेन्द्र स्थविर आसन पर प्रसन्न मुद्रा में बैठ गए।

राजा निकट आ, शस्त्र त्याग, परिक्रमा कर समीप ही एक ओर बैठ

गया। अमात्यवर्ग और राजपरिवार भी यथास्थान बैठे। पौरजन चारों ओर घेरकर खड़े रहे।

राजा ने पूछा—'आर्य प्रसन्न तो हैं ? यहाँ विहार करने से कष्ट तो नहीं ?'

महेन्द्र ने उत्तर दिया—'राजन, हम धर्मराज तथागत के धर्मदूत श्रमण हैं। काय-क्लेश से रहित हैं। तेरे ही कल्याण के लिए हम यहा आए हैं।'

'आर्य आए हैं यह जानकर मेरा राज-परिवार, अमात्यवर्ग और सब नगर-नागर आपकी चरण-वन्दना को यहा उपस्थित है। इन पर श्रमण का अनुग्रह हो।'

महेन्द्र ने सुमन श्रामनेर से कहा—'हे भद्र इन सब नागरिकों को व्यवस्थित बैठा।'

उनके बैठ जाने पर महेन्द्र ने स्थविर इट्ठिय से उन्हे प्रव्रज्या देने का आदेश दिया।

स्थविर इट्ठिय ने उन पर पवित्र जल का मार्जन करके कहा—सब बोलें—

धम्मं सरण गच्छामि।
बुद्धं सरणं गच्छामि।
सघ सरणं गच्छामि।

चालीस हजार कठ एक स्वर से तीनों वचनों को दुहरा कर पृथ्वी पर झुक गये।

महेन्द्र ने कहा—'सब के हित के लिए, सब के सुख के लिए, अपने कल्याण के लिए, पवित्र जीवन व्यतीत करने के लिए तीन वचनो से तुम श्रावक हुए।'

राजा ने निवेदन किया—'आर्य, कुछ और भी अनुग्रह की कामना करता हूँ।'

'राजन, जैसे आप देवानाप्रिय प्रियदर्शी का जम्बू द्वीप काषाय से जगमग है, वैसे ही तेरा सिंहलद्वीप भी काषाय से जगमगा रहा है। अब तू किस अनुग्रह की कामना करता है ?'

'आर्य, यहा अनुलादेवी राजभगिनी उपस्थित है। वह पांच सौ कन्याओं

और पाच सौ अन्त.पुर की स्त्रियों के साथ परिव्रज्या लेना चाहती हैं।'

'तो आर्या सघमित्रा उन्हें प्रव्रजित करें।'

सघमित्रा ने उनसे कहा—'आ महाभागा, धर्मानुशासन मे स्त्रियां पीछे नही रहती, यह तथागत का वचन है। सब व्यवस्थित होकर बैठो।'

सब बैठ गई। आर्या सघमित्रा के पवित्र जल का मार्जन करके तीन वचनों से उन्हें भी प्रव्रज्या दी ।

राजा बोला—'आर्य, अभी एक अनुग्रह और शेष है। मेरा यह भांजा अरिष्ठ है। यह अपने पाच सौ मनुष्यों के साथ प्रव्रजित होना चाहता है।'

महेन्द्र ने कहा—'श्रेय तो जितना हो वही उत्तम है। बैठ अरिष्ठ, तुझे और तेरे मनुष्यों को मैं प्रव्रज्या देता हू।'

महेन्द्र ने पवित्र जल का मार्जन करके तीन वचनो से प्रव्रज्या दी, और कहा—'अब तुम सब तीन वचनों से श्रावक हुए।'

'भन्ते आर्य, हम सुप्रतिष्ठित हुए। लोक में भी और परलोक मे भी।'

'देवानां प्रिय तिष्य अदृष्ट-मित्र, अब मैं तेरा और क्या प्रिय करूं?'

'भगवन, अब यहीं अनुराधापुर मे सघ सहित वर्षावास करें।'

'ऐसा ही हो।'

'किन्तु यह स्थान राजधानी से दूर है। नन्दन वन मे अच्छा रहेगा।'

'वह नगर के अति निकट है, इसलिए अनुकूल नहीं है।'

'तब महामेघवन नगर से न बहुत दूर है, न निकट। वह छाया-जल से युक्त रमणीक स्थल है। आर्य वहां वर्षावास करें।'

'हा, वह उद्यान यतियों के अनुकूल है।'

'क्या सघ आराम ग्रहण कर सकता है?'

'हा, सम्यक सम्बुद्ध के सुन्दर धर्म, बुद्धवाक्य, तदनुसार आचरण और निर्वाण के लिए मै स्वीकार करता हूं।'

'प्रसाद हुआ। भिक्षु-सघ के लिए महाविहार और आर्या सघमित्रा के लिए पृथक 'उपासिका विहार' बनाने की अनुमति प्रदान हो।'

'अनुमति देता हूं।'

'अनुगृहीत हुआ।'

महामेघ अनुष्ठान के तेरहवें दिन, आषाढ़ शुक्ल त्रयोदशी को महा-

कुमार महेन्द्र, राजा का फिर आतिथ्य ग्रहण करके अनुराधापुर के पूर्वी द्वार से महामेघ पर्वत को लौट चले। महाराज तिष्य अनुला और सिंहलियों को साथ लेकर, रथ पर बैठकर दौड़े आये।

महेन्द्र और भिक्षु तालाब मे स्नान करके पर्वत पर चढ़ने को उद्यत खड़े थे। राजवर्ग को देखकर महाकुमार ने कहा—'राजन्, इस असह्य ग्रीष्म में तुमने क्यों कष्ट किया ?'

'स्वामिन, आपका वियोग हमें सह्य नही।'

'अधीर होने का काम नहीं। हम लोग वर्षा-ऋतु मे वर्षा अनुष्ठान के लिए पर्वत पर जा रहे है और वर्षा-ऋतु यही पर व्यतीत करेंगे।'

महाराज तिष्य ने तत्काल कर्मचारियो को लगाकर 68 गुफाएं वहा निर्माण करा दो, जिससे भिक्षुगण वहां चातुर्मास व्यतीत कर सकें।

कुछ समय बाद तिष्य ने महेन्द्र के पास आकर निवेदन किया—'स्वामिन, यह बड़े खेद का विषय है कि लंका मे भगवान बुद्ध का ऐसा कोई स्मारक नहीं जहा उनको भेंट पूजा चढ़ाकर विधिवत अर्चना की जाय। यदि प्रभु स्मारक के योग्य कोई वस्तु प्राप्त कर सकें तो उसकी प्रतिष्ठा करके उस पर स्तूप बनवा दिए जाएं।'

महाकुमार महेन्द्र ने विचार कर महाश्रमण सुमन को लका नरेश का यह संदेश लेकर सम्राट प्रियदर्शी अशोक की सेवा मे भारतवर्ष भेज दिया।

उसने सम्राट से महाकुमार और महाकुमारी के पवित्र जीवन का उल्लेख करके कहा—चक्रवर्ती की जय हो। महाकुमार और लंका-नरेश की इच्छा है कि लंका मे तथागत के शरीर का कुछ अंश प्रतिष्ठित किया जाए और उसकी पूजा होती रहे।

अशोक ने महाबुद्ध के गले की एक अस्थि का टुकड़ा उसे देकर विदा किया।

तेईस

अनुराधपुर, महामेघ उपवन तथा राजपथ, ध्वजा-पताका-तोरण पवित्र पुष्प लताओं से सजाया गया था, क्योंकि आज महाश्रमण सुमन तथागत का दन्तधातु लेकर लौटे थे। राजा ने राजदरबारियों सहित आगे बढ़ उनका स्वागत किया, और दन्तधातु को हाथी दात के पात्र में रखकर स्वर्ण मंजूषा में डाल अपनी गोद में रख राजकीय छत्र चंवर सहित हाथी पर बैठ उपवन के राजमार्ग पर चला। उसके पीछे तीस सहस्र सिंहली हाथों में पूजा द्रव्य सजाये नंगे पैर चले।

पौर नागरिक और जन-पथ के स्त्री-पुरुष ठौर-ठौर पर शंख, वीणा, मृदंग, मुख-भेरी बजा-बजाकर नृत्य कर रहे थे। सवारी विहार के सिंह पौर पर आकर रुकी। राजा हाथी से उतरकर दंत-धातु का पात्र सिर पर धरे विहार में उस स्थान पर पहुंचे जहां महेन्द्र संघ स्थविर और संघमित्रा सहस्रों भिक्षुओं और भिक्षुणियों सहित बैठे थे। स्थविर ने संघ सहित खड़े होकर दंत धातु पात्र का अभिनन्दन किया। इसके बाद दंत-धातु का पात्र वेदी पर रख राजा पात्र और महेन्द्र की परिक्रमा कर एक ओर बैठ गया।

महेन्द्र बोले—'राजन, सौ हाथी, सौ घोड़े, सौ खच्चरों के रथ, मणि-कुण्डल पहने सौ हजार कन्याएं इस एक दंत-धातु के सोलहवें भाग के मूल्य के बराबर भी नहीं हैं। यह तेरे कल्याण के लिए इस द्वीप के सब जीवों के कल्याण के लिए आज मैं यहां स्थापित करता हूं।'

राजा ने कहा—'भन्ते भगवन, जिससे सब द्वीपवासी धातु पात्र का यथावत पूजन अर्चन का पुण्य-लाभ कर सकें, वही कीजिए। भन्ते भगवन, जैसे अंधकार में दीपक रख देने से आंख वाले रूप देखने में समर्थ होते हैं ठीक ऐसे ही भन्ते, आपने धर्म को प्रकाशित किया है।'

'राजन, जैसे कालिमा रहित शुद्ध वस्त्र अच्छी तरह रंग पकड़ता है, उसी भांति जो कुछ समुदय-धर्म है, निरोध-धर्म है, वह तूने देख लिया। तुझे विमल, विरज धर्म-चक्षु उत्पन्न हुआ। अब तू द्रष्ट धर्म, प्राप्त-धर्म, विदित-धर्म, पर्यवगाढ़-धर्म, संदेह-रहित, वाद विवादरहित, शास्ता के शासन

से अवगत हो गया। तेरा परम कल्याण हो गया।'

राजा ने महेन्द्र की परिक्रमा की और बोला—'भन्ते भगवन, यही कल्याण मेरे द्वीप के प्रत्येक जन को प्राप्त हो। मैं यही कामना करता हूं। जो धनी थे उन्होंने भी, जो नहीं थे उन्होंने भी, जो जानते थे उन्होंने भी, जो नहीं जानते थे उन्होंने भी धर्म में योग दिया है। भन्ते भगवन, आज सारा सिंहल द्वीप तथागत के तीन वचनों के शरणागत है। ये लोग नवकर्म कराते हैं। श्रद्धापूर्वक भिक्षुओं को चीवर-पिण्डपात, शयनासन, भैषज्य इत्यादि देते हैं। परिष्कारों से अपने को सम्कृत करते हैं।'

महेन्द्र ने कहा—'राजन्, पूर्वकाल में हिमालय के पास एक बड़ा बरगद का वृक्ष था। उस वृक्ष के आश्रय में तीतर, वानर और हाथी ये तीन मित्र रहते थे। तब एक बार उन मित्रों को ऐसा विचार हुआ कि हममें ज्येष्ठ कौन है, श्रेष्ठ कौन है, जिससे हम उसका सत्कार करें। गौरव मानें, पूजन करें और उसके शासन में रहें।'

तब राजन, तीतर और वानर ने हाथी से पूछा—'सौम्य, तुझे कौन-सी पुरानी बात याद है?'

हाथी ने कहा—

'जब मैं बच्चा था इस बरगद को जांघों के बीच में करके लांघ जाता था। इसकी फुनगी मेरे पेट को छूती थी। सो यह पुरानी बात मुझे याद आती है।'

तब तीतर और हाथी ने वानर से पूछा—'सौम्य, तुझे कौन-सी बात याद है?'

वानर ने कहा—'जब मैं बच्चा था तब भूमि पर बैठकर इस बरगद की फुनगी के अंकुरों को खाता था।'

तब हाथी और वानर ने तीतर से पूछा—'सौम्य, तुझे कौन-सी पुरानी बात याद है?'

तीतर ने कहा—'उस जगह बड़ा भारी बरगद था, उसके फल खाकर इस जगह मैंने विष्टा की, उसी से यह बरगद पैदा हुआ। उस समय सौम्यो, मैं किशोरावस्था में पदार्पण कर चुका था।'

तब हाथी और वानर ने तीतर से कहा—'तू हममें ज्येष्ठ है, तेरा हम

चौबीस

पाटलिपुत्र के राज महालय के अन्तःपुर का कक्ष प्रकाश से जगमग था, दीपाधारों पर सुगन्धित तेल के दीपक जल रहे थे। तोरण और द्वारों पर पुष्प-स्तवक सजे अपनी भीनी महक-मादकता उत्पन्न कर रहे थे। स्वच्छ स्फटिक के फर्श पर दीपक का आलोक प्रतिबिम्बित हो रहा था। दासियां हाथ बांधे यथास्थान उपस्थित आदेश की प्रतीक्षा में खड़ी थीं। रानी तिष्यरक्षिता रति के समान स्वर्ण आसन्दी पर उपाधान के सहारे अलस भाव में पौढ़ी थी। उसके अंग पर महीन कौशेय और बड़े-बड़े उज्ज्वल सिंहल के मोती सज रहे थे। शुभ्र चांदनी रात में वह मूर्तिमति शरद कौमुदी-सी प्रतीत हो रही थी।

इस रात्रि में अलस भाव के साथ उसकी विचारधारा कुछ और ही सोच रही थी—

'गान्धार में युवराज धर्म विवर्धन ने सुव्यवस्था स्थापित की है। इसी से राजधानी में आज उत्सव मनाया जा रहा है। मैंने भी उत्सव में योग किया है। इतने दिन बाद भी वह पुराना वैर भूला नहीं है। पर मेरा तो लक्ष्य च्युत हो गया। मेरा वैरी धर्म विवर्धन यहां नहीं है, जिसकी आशा में मैं यहां आई थी। सम्राट ने उसे गांधार भेज दिया है। वह जहां भी रहे, मेरी आंखों का शूल है। उसके अरविन्द से नेत्र कितने कमनीय हैं। पर उन्हीं से उसने मुझे विष-दृष्टि से देखा। तो वे नेत्र अब नष्ट हों। यह मेरा आदेश है। साम्राज्ञी का आदेश है। मैंने उससे प्रणय-निवेदन किया था—क्यों न करूं भला। मेरे इस तारुण्य का मूल्य क्या सम्राट का जरा-जीर्ण शरीर चुकाएगा? मैंने तो उन्हें बरा नहीं। साम्राज्य की लिप्सा ने मेरी बलि दी। नाभकों को भी एक राजकन्या चाहिए—जिससे हिमाचल सीमा में सम्राट के प्रभाव अक्षुण्ण रहें। इसी से मेरे पिता से उन्होंने मुझे मांगा। यहां मैंने विवर्धन को देखा—मेरे ही समान, नव-वय, सुहास मुद्रा, मनोज नेत्र और प्रफुल्ल दृष्टि। इसी में मैंने उससे प्रणय-याचना की, जिसकी उसने अवहेलना की। उसने मेरी ओर से आंखें फेर लीं। उसने कहा था कि वह अब मुझे नहीं देखेगा। अतः मैंने भी प्रण किया कि, वह और किसी

को भी न देखने पाएगा। उसकी निष्ठुरता मेरे हृत्पट पर अंकित है। रात्रि का प्रथम प्रहर बीत गया है, देवताओ के प्रिय प्रियदर्शी महाराज अभी तक नही आए है। कदाचित प्रियदर्शी महाराज धर्मघोष मे व्यस्त हों अथवा देवी असन्धिमित्रा के सान्निध्य मे हों।

तिष्यरक्षिता की इस विचारधारा मे बाधा देकर वेत्रवती ने प्रवेश कर निवेदन किया।

'देवी प्रसन्न हो। विद्याधरी और गांधर्वी आई हैं। वे देवी को अपने वीणावादन से प्रसन्न किया चाहती हैं।'

'उन्हें आने दे भला।' यह कहकर तिष्यरक्षिता ने आसव देने की आज्ञा दी।

स्वर्णपात्र से आसव पीकर, पात्र एक ओर फेंककर हंसती हुई बोली—'ताम्बूल भी दे।' ताम्बूल मुह मे दबा मसनद पर पौढ गई। विद्याधरी और गान्धर्वी ने यथास्थान बैठकर पूछा—'देवी को क्या प्रिय है।'

'वीणा मुझे प्रिय है सखियो, वीणा बजाओ और कामसखा बसन्त का गीत गाओ। ऐसा गाओ प्रियाओ, कि वातावरण में विरह की मादकता भर जाये।'

क्षण भर मे ही वीणा और गायन के स्वर लहरा उठे।

गायन अभी चल ही रहा था कि वेत्रवती दासी ने प्रवेश करके निवेदन किया—'देवानाप्रिय-प्रियदर्शी पधार रहे है।'

यह सुन रानी लडखड़ाती उठ लडखडाते स्वर मे बोली—'देवानाप्रिय-प्रियदर्शी सम्राट की जय हो। आर्य पुत्र की जय हो। धर्मघोष अब पूरा हुआ सम्राट।'

सम्राट ने कुछ विरक्ति से उत्तर दिया—देवी को बहुत असुविधा हुई, मुझे विलम्ब हो गया।

असुविधा काहे की सम्राट! पाटलिपुत्र के राजमहालय मे अथवा प्रियदर्शी सम्राट के धर्मराज्य मे असुविधा कहा से है। यह आसन है, विराजिए सम्राट।

सम्राट ने बैठकर धीरे से कहा—'मेरे धर्मराज्य मे नही—परन्तु देवी के आवास मे अवश्य है।'

'मेरे आवान में क्यों आर्य पुत्र ?'

'यहां मेरा धर्मराज्य नहीं है। धर्मानुशासन नहीं है।'

'यह कैसे सम्राट ?'

'यहा आनन्द है, वसन्त है, विरह है, मिलन है, संगीत है, सुधा है, सौंदर्य है, तारुण्य है।'

रानी हंसकर बोली—'सब कुछ है, किन्तु धर्मराज्य नहीं है।'

'हा देवी, धर्मराज्य नहीं है।'

'दृष्टिदोष है आर्यपुत्र।'

'कैसा दृष्टिदोष ?'

'देवताओं के प्रिय की दृष्टि पुरानी है।'

'और तुम्हारी नवीन।'

'हा सम्राट, पर यह मेरा दोष नहीं है। वय-प्रभाव है। आर्यपुत्र ने ही इस वार्धक्य में तारुण्य को वरण किया है। तारुण्य और वार्धक्य का मेल कहा है आर्यपुत्र ?'

'ओह देवी, केवल यही कथनीय है तुम्हें।'

'और भी, आप सम्राट हैं। पृथ्वी के अधीश्वर हैं, सम्पदाओं के स्वामी हैं। आपके अन्तःपुर में फिर ऐश्वर्य-विष क्यों है ?'

'देवी संयम से धर्म लाभ होता है। सम्यक दृष्टि मिलती है।'

'आर्य पुत्र, यह बात तो असन्धिमित्रा को प्रिय हो सकती है।'

'देवी को क्यों नहीं ?'

'मैं तो समझती हूं, जीवन का श्रेष्ठ भाग तारुण्य है और भोग उसका शृंगार है। जीवन और भोग एक-दूसरे के लिए हैं।'

'किन्तु आत्मा के लिए ? आत्मा की मुक्ति के लिए ?'

'यह सब तो मैंने विचारा नहीं सम्राट, यह तो मेरा विषय नहीं। धर्म महामात्य का विषय है अथवा आचार्य उपगुप्त का।'

'और देवी का विषय।'

'आर्यपुत्र को मधुदान, आत्मदान, स्नेहदान, आनन्ददान।'

सम्राट यह सुन हंस दिए—'इसी से आज नृत्य-पान-संगीत-सज्जा देख रहा हूं।'

इसी से आर्य पुत्र। फिर आज विवर्धन के सम्मान मे राजधानी भर में नक्षत्र-दिवस मनाया जा रहा है। यह सब नृत्य पान तो उसी के लिए है।

सम्राट प्रसन्न होकर बोले—'अहा। प्रियदर्शन, आयुष्मान धर्म-विवर्धन को देवी इतना मानती है।'

'क्यो नही, क्या इसमें आर्या पद्मावती अप्रसन्न होंगी ?'

'प्रसन्न होगी प्रिये। मेरा धर्मविवर्धन प्रियदर्शन मेरे प्राणों से भी प्रिय है।'

'मुझे भी आर्यपुत्र। प्रियदर्शन को देर से देखा नहीं।'

'देखना चाहती हो देवी ?'

'देखना चाहती हू।'

'तो मैं सदेश भेजूगा। प्रियदर्शन को बुलाऊगा।'

'यह छोटा-सा राजकाज तो अभी कीजिए सम्राट। मैं विलम्ब नही सह सकती। अभी प्रियदर्शन धर्म विवर्धन को बुलाने का आदेश लिखिए।'

'अभी।'

'हां, यह लेखपट्ट है सम्राट।'

'अच्छा, तो लिखो तुम। यह मेरी राजमुद्रा है। इसे छाप दो।'

'जैसी आज्ञा।'

रानी ने लेख लिखकर लेखपट्ट पर राज मुद्रा से मुहर कर हसते हुए कहा—'यह लीजिए सम्राट लेखपट्ट तैयार हो गया है महाराज।'

सम्राट ने उसे देखे बिना ही कहा—'प्रभात में याद रखना, संदेश-वाहक के हाथ भिजवा देना।'

'जैसी आर्यपुत्र की आज्ञा। एक मधुपर्क लीजिए—प्रियदर्शन के मंगल के लिए।'

'नही प्रिये। यह हितकर न होगा।'

'संगीत···'

'नही, मैं श्रमित हूं, थकित हूं। मैं विश्राम करूंगा।'

'तो आर्य पुत्र विश्राम करें। अर्द्ध रात्रि व्यतीत हो रही है। शयन का काल है। अरी वेत्रवती, महाराज को शयन कक्ष का द्वार दिखा।'

सम्राट उठकर शयन कक्ष मे चले गये, उनकी भूल से राजमुद्रा वहीं

पड़ी रह गई। रानी ने उसे यत्न से वस्त्र में छिपा लिया। एक कुटिल हास्य रेखा उसके ओठों पर छा गई।

पच्चीस

तपाए हुए स्वर्ण के समान शरीर पर दूर्वाकर के समान स्निग्ध सुन्दर नील-मणि शोभित, स्वर्ण वलयों से सुशोभित पृथुल भुज-युग मत्त गज के दन्तों की शोभा धारे प्रत्यक्ष ही कुमार स्कंद के समान प्रत्यंत पूजित महाकुमार भट्टारक युवराज धर्म विवर्धन ने हंसकर आमात्य से पूछा—

'आर्य, कुशल तो है। आज इतने सवेरे व्यस्त भाव से आप चले आ रहे हैं।'

'युवराज, देवताओं के प्रिय-प्रियदर्शी धर्मराज महाराज ने दूत भेजा है। यही प्रिय संदेश निवेदन करने आया हूं।'

'तो आज का प्रभात भाग्यशाली है। उस शुभदर्शी को अभी यहा ले आओ। मैं पितृचरण का कुशल-मगल जानने को आतुर हो रहा हू।'

दूत के आने पर उन्होंने पूछा—'शीघ्र प्रिय निवेदन कर भद्र, पितृचरण हमारी सब माताओ सहित कुशल तो है ?'

'हां, बुद्धसत्व की कृपा से सब भली-भांति प्रसन्न है ?'

'आयुष्मान सम्प्रति तो अब सयाना हो गया होगा। बहुत दिन से उसे नहीं देखा। देखने को आंखें तरस रही है।'

'आयुष्मान सम्प्रति अब राजकाज देखते है महाकुमार, राजआमात्यों के साथ धर्मासन पर विराजते है।'

युवराज ने प्रसन्न होकर कहा—'पितृचरण को वह बहुत प्रिय है।'

'हा, महाराज।'

'तो भद्र, अब तू प्रिय संदेश निवेदन कर।'

'महाकुमार, यह लेख है ।'

यह कहकर दूत ने वह लेख दिया ।

कुमार मुद्रा खोलकर उसे पढ़ने लगे । पढ़ते-पढ़ते उनका मुख पानी में भरे बादलों के समान गंभीर हो गया । उन्होंने सेवक को आज्ञा दी—'आर्य, दूत को सत्कारपूर्वक शयनासन दो और मैं अभी सेनापति चण्डगिरि तथा आर्य दीपवर्धन को देखना चाहता हूं ।'

यह कहकर कुमार गंभीर चिंतन में मग्न हो गए ।

थोड़ी ही देर में सेनापति चण्डगिरि और दीपवर्धन वहां आ पहुंचे । सेनापति ने अभिवादन किया—'भट्टारकपादीय प्रत्यन्त पूजित महाकुमार की जय हो ।'

कुमार दीपवर्धन की ओर देखकर बोले—'आर्य अभिवादन करता हूं ।'

कुमार ने सेनापति को आदेश दिया—'सेनापति । वधिक को बुलाओ ।'

दीपवर्धन ने भी चकित होकर प्रश्न किया—'वधिक को किसलिए ?'

कुमार बोले—'प्रयोजन है सेनापति, जल्दी करो ।'

सेनापति ने भी पूछा—'महाराज का अभिप्राय क्या है ?'

कुमार बोले—'राजाज्ञा है सेनापति ।'

दीपवर्धन ने कहा—'पर कैसी राजाज्ञा ?'

कुमार ने वह लेख देकर कहा—'यह देखिए ।'

दीपवर्धन लेख पढ़कर बोले—'शांत पापं ! शांत पापं !!'

'नहीं-नहीं, यह राजाज्ञा नहीं है । कोई षड्यन्त्र है ।' यह कहकर उन्होंने लेखपट्ट सेनापति को दिया ।

कुमार बोले—'आर्य, मैं राजमुद्रा से परिचित हूं । राजाज्ञा तत्काल पालन होनी चाहिए ।'

सेनापति वह लेख पढ़कर उद्वेग से चीख उठे—'मैं विद्रोह करता हूं । मैं देवताओं के प्रिय का अनुशासन अस्वीकार करता हूं । सैनिको खड्ग खींच लो ।'

सेनापति का आदेश पाते ही सहस्रों सैनिक खड्ग कोष से निकालकर

युद्ध के लिए सन्नद्ध हो गए।

कुमारने शांतिपूर्वक कहा—'विद्रोह नही सेनापति, राजाज्ञा का पालन होना चाहिए।'

सेनापति ने आक्रोशपूर्वक कहा—'नही होगा। प्राण रहते कदापि नहीं !!'

'मित्र, हम लोगो ने साथ-ही-साथ चिरकाल तक राज-सेवा की है। संकट मे भी और आनन्द मे भी हम सहायक रहे है। अब भी वैसा ही हो।'

दीपवर्धन बोले—'कुमार, यह राजाज्ञा नही है।'

कुमार ने दृढता से कहा—'इसका तुरन्त पालन होना चाहिए। आज्ञा देता हूं सेनापति।'

सेनापति खड्ग कुमार के चरणों में फेंककर बोले—'तो अत्यन्त पूजित महाकुमार अपने ही हाथों मेरा वध करें। मैं राजाज्ञा पालन नही करूंगा।'

कुमार ने दु खित मन कहा—'तब मैं ही आज्ञा दू। आर्य कंचुकी अथवा जो कोई भी राज सेवक हो—वधिक को अभी उपस्थित करें।'

शीघ्र ही राज परिषद् बुलाई गई।

कुमार धर्मविवर्धन, सेनापति चण्डगिरि, धर्मपाल दीपवर्धन और अन्य राज-परिषद के राजपुरुष उपस्थित हुए। सैनिक आ-आकर पक्तिबद्ध खड़े हो गए। वधिक भी आकर सिर नीचा किए खड़ा हो गया।

कुमार बोले—'आर्य धर्म महामात्य, अब आप राजाज्ञा सबको सुना दें। सब कोई सुने—देवताओं के प्रिय-प्रियदर्शी महाराज धर्मराज अशोक की आज्ञा है।'

यह सुन दीपवर्धन ने कपित स्वर में राजाज्ञा पढकर सुनाई—

'आयुष्मान प्रत्यन्त पूजित महाकुमार भट्टारक धर्मविवर्धन को सब अधिकारो से च्युत कर दिया जाए और तप्त शलाकाओं से उनके दोनो नेत्र फोड दिए जाएं।' पढते-पढते वह रो पडे और लेख फेंक भूमि पर बैठ गए।

राजाज्ञा सुनते ही चारो ओर हाहाकार मच गया। सैनिक विद्रोह के लिए तत्पर हो गए। सैकडो कठों से 'नहीं-नही, ऐसा न होने पाएगा। हम विद्रोह करेंगे। हम धर्मराज अशोक की यह क्रूर आज्ञा नही मानेंगे।' ध्वनि राजपरिषद में गूज गई।

यह सब देख कुमार ने शांतिपूर्वक कहा—शांत हो जाओ मित्रो, राजाज्ञा अवश्य पालन की जाएगी। अभी मैं ही प्रत्यन्तपति, गांधार का राजपात हूं। आप लोग धैर्य से साक्षी रहें कि राजाज्ञा ठीक-ठीक पालन हो रही है। सेनापति, यह राजपरिच्छद, खड्ग और राजमुद्रा संभालो।

उन्होंने राजपरिच्छद और खड्ग उतारकर सेनापति को दे दिये फिर बोले—'सब कोई सुनें। राजाज्ञा पालन के बाद मेरे सब अधिकार सेनापति चण्डगिरि ग्रहण करेंगे जब तक दूसरी राजाज्ञा राजधानी से न प्राप्त हो।'

उन्होंने भूमि पर बैठकर वधिक से कहा—'अब तू अपना कार्य कर मित्र।'

राजाज्ञा की बात सुन अस्त-व्यस्त परिधान संभालती हाहाकार करती चारुशीला गिरती पड़ती राजपरिषद में चली आई। उन्होंने रोते-रोते कहा—

'यह क्या हो रहा है? हा! हा! हा हा!! तप्त शलाका इन नेत्रों में? जो फुल्लारविंद के समान सुन्दर, देवता के समान पवित्र और शरद कौमुदी के समान शुभ्र हैं? तप्त शलाका!! शांतं पापं, शांतं पाप!!' यह कहकर वह कुमार के ऊपर पछाड़ खाकर गिर पड़ी तथा दोनों हाथों से अपनी आंखें ढांप लीं।

कुमार बोले—'प्रिय चारुशीले, विपत्ति में धैर्य, अभ्युदय में क्षमा और युद्ध में अपलायन—यही महात्माओं का लक्षण है।'

चारुशीला हा-हा करती हुई कहने लगी—तब ऐ वधिक, मेरे नेत्रों में भी तप्त शलाका घुमेड दे। हृदय विदीर्ण कर दे, देह को खण्ड-खण्ड कर दे, या जीवित ही जला दे। मैं सब कुछ सहन करूंगी।

राज-अग्नि-जल प्रभृति भय, संभ्रम कहि आवेग।
मुख-दुख दृष्ट अनिष्ट तैं, तह चित-हित उद्वेग॥
तहं चित हित उद्वेग, सोइ नायक निज जन हित।
संगर धीर कुलीन, तजत निज गात हेत नित।
पीर हरन भट भीर, विपत्ति धीर गंभीर गुन॥
जन-जन-जन नीरज नयन, सकल सराहंसिह गुननि गुन॥

दीपवर्धन बोले—'आकिंचन्य और निरहंकार ही जरा और मृत्यु का

नाश करने वाला निर्वाण है। इसी ने स्मृतिवान् इसी जन्म में परिनिर्वाण प्राप्त कर लेते हैं। देवी, राजाज्ञा पालन होने दो।'

'तो आर्य, पहले मेरे नेत्रों में तप्त शलाकाएं डालने की आज्ञा दीजिए।'

दीपवर्धन रो पड़े—'कल्याणी, समय पर महापुरुष ही उत्कर्ष दिखाते हैं। तुम्हारे नेत्र ही अब कुमार के नेत्र होंगे। आर्य कुमार राजाज्ञा को अपने नेत्र दे रहे हैं—तुम कुमार को अपने नेत्र दो।'

कुमार ने अधीरता से कहा—'तो फिर अब विलंब क्यों? राजाज्ञा में तो विलम्ब मैंने कभी सहन नहीं किया।'

यह सुन चारुशीला पछाड़ खाकर गिर पड़ी—'हाय आर्यपुत्र, यह मैं कैसे देखूंगी।'

कुमार बोले—'प्रिये, धर्मात्मा राज ने मुझे प्राण-वध का दंड नहीं दिया है।' आर्य धर्म महामात्य ने ठीक ही कहा—'तुम्हारे नेत्रदान से मेरा संसार सजेगा। हम तुम्हारे नेत्रों से धर्म लाभ करेंगे। वधिक, तुम अपना काम करो। क्या तुम्हारी शलाकाएं तप्त हैं?'

यह सुन अश्रुपूरित वधिक धीरे-धीरे आगे बढ़ा। उसे तप्त शलाका लेकर कुमार की ओर बढ़ते देख चारु, 'अरे नहीं-नहीं' कहकर मूर्छित होकर गिर पड़ी। वधिक ने कुमार के नेत्रों में तप्त शलाका घुसेड़ दी। सब जन हाहाकार करने, रोने-चीखते, वस्त्र फाड़ते उन्मत्त की भांति भागने लगे। केवल कुमार स्थिर निश्चल बैठे रहे और उनके नेत्रों से रक्त की धार बहने लगी।

यह दारुण समाचार नगर में सर्वत्र फैल गया। सहस्रों नर-नारियों ने राजावास को घेर लिया। महाकुमार धर्मविवर्धन और चारुशीला एक वस्त्र धारण किए राजावास त्यागने को उद्यत हुए। यह देख राजपुरुषों ने दीपवर्धन को आगे कर निवेदन किया—

'आयुष्मान, जब तक भैषज्य अपना कार्य करें, व्रण रोपण हो—तब तक तो राजावास में रहें।'

कुमार ने उत्तर दिया—'नहीं भन्ते, यह सुकर नहीं है—हमें जाना ही होगा।'

सेनापति बोले—'तो आर्य कुमार, राजकोष से यथेष्ट धन ले लें।

राज-सेवक ले ले। प्रत्यन्त मे जहा रुचि हो रहे।'

'नही सेनापति, यह सुकर नही। राजपरिकर मैं ले नही सकता।'

सेनापति ने पैरो मे गिरकर फिर कहा—'हम पर अनुग्रह कीजिए कुमार, अत्यन्त पूजित कुमार।'

भीड मे रुदन उमड पडा। सब रो-रोकर कहने लगे—

'हम पर अनुग्रह कीजिए—अत्यन्त पूजित कुमार। हम आपके अनुगत है। हमारे देय ग्रहण कीजिए।'

कुमार ने उत्तर दिया—'नही, तुम्हारा देय राज ग्रहण करेगा, मित्रो।'

सेनापति ने आर्द्र कण्ठ से कहा—'कुछ तो अनुग्रह कीजिए कुमार। मैं अनुगत मित्र चंडगिरि अनुनय करता हूं।'

'तो मित्र, मुझे मेरी वीणा दे दो।'

कुमार वीणा लेकर बोले—'मित्रो, तुम्हारा कल्याण हो। अन्धे को राह दो भाइयो, अन्धे को राह दो। चलो प्रिये चारुशीले।'

'चलिए आर्य पुत्र।'

चारुशीला ने पति का हाथ पकडकर कहा—

दीपवर्धन हाहाकार कर उठे—'हा-हा-हा-हा—अरे, आज पृथ्वी डग-मग क्यों नही होती। समुद्र पृथ्वी को क्यों नही डुबो देते। भूधर धरती मे क्यो नही धंस जाते। आकाश क्यो नही फट पडता। आज निष्पाप राज-कुमार, प्रत्यन्त पूजित महाभट्टारक प्रियदर्शी धर्मविवर्धन नेत्रदान कर जा रहा है। उसके साथ छाया की भाति राजकुल-वधू, कुसुम-कोमला चारु-शीला पाव-पयादे जा रही है। हाय रे विधाता, हाय रे अदृश्य!!'

रोते-कलपते हजारों स्त्री पुरुष गिरते-पडते उनके पीछे चलने लगे।

चकित चितन हीन मुद्रित मेरे दृग आज।
तैरते निविर्धन तम सर मे मधाते काज।
प्रियतमा को हिम बनाकर तारिका की ठौर।
आप भी देखें न देखन दें प्रिया को और॥
हरितिमय मेदिनी पर लहलहाते खेत।
झूमते तरु डालियों पर फूल लोहितश्वेत।

ललित कलियां प्रस्फुटित-सी और कुछ-कुछ बंद ।
हो अधीर बखेरती है मंद-मद सुगन्ध ॥
है भला कैसी कली सुरभित मृदुलप्रिय रूप ।
अर्ध उन्मीलित विकसित सी प्रणम्र अनुरूप ॥
दान देकर सौम्य सौरभ कर मुझे चुपचाप ।
नित्य गुप-चुप हास हसती अपने आप ॥

छब्बीस

सम्राट अशोक ने राधागुप्त से कहा—'राधागुप्त, सत्य ने मनुष्य को देवता बनाया। पहले मनुष्य देवता नही था, पशु था। उसने सत्य को पाया और वह देवता बन गया। परन्तु सहस्रों वर्ष उसे सत्य को पाने में लगे। अपनी इच्छाओ और लालसाओ को लेकर वह चला। अज्ञान ने उसकी राह रोकी, भय ने उसे भयभीत किया। भूलो ने उसे भटकाया, पर वह टटोलता हुआ, रेंगता हुआ, बढ़ा ही चला गया।'

राधागुप्त न बोले—'हां महाराज, सत्य का पथ बहुत ही विकट है।'

'उसे ठोकरें खानी पडी, रुकना पड़ा, बहुत बार उसकी राह खो गई।'

'अज्ञानी पुरुष !!'

'उसने ऋषियो से, मुनियों से, पुरोहितों से, सत-महात्माओं मे सत्य की राह पूछी। पर सभी ने उसे धोखा दिया।'

'सभी ने ?'

'वह भूतों-प्रेतो, राक्षसो, शैतानों, यमदूतों के पल्ले पडा। राज सिंहासनो के नीचे उसे झुकना पडा, धर्म के आगे श्रद्धा से झुकना पडा—पर दासता को छोड उसे और कुछ न मिला।'

'दुर्भाग्य था महाराज।'

'अन्ततः उसने विचार का आश्रय लिया। विचारना आरम्भ किया—तो उसने अपने हृदय को अपनी ही अनुभूतियों की भावना से भर लिया। तब कहीं उसे प्रकाशमान, ज्वलन्त सत्य मिला।'

'वह धन्य हुआ।'

तब उसी सत्य को उसने अपना मानसिक धन बनाया। वह प्रसन्न हो गया, सुखी हो गया, सम्पन्न हो गया। सभ्य हो गया। श्रेष्ठ हो गया। पवित्र हो गया और अन्त में देवता हो गया। कौन था वह मनुष्य राधागुप्त?

'तथागत बुद्ध।'

'ठीक है।' तथागत ने सत्य की खोज में एक बात सीखी। अपने प्रति सच्चे रहना। जब उसने इसका अभ्यास कर लिया तो उसने अपने मस्तिष्क की प्रयोगशाला में केवल अपने ही लिए संसार की वास्तविकताओं का परीक्षण कर डाला।

'केवल अपने ही लिए?'

'अपने ही लिए राधागुप्त, अपने ही लिए। बस, उसकी बुद्धि पवित्र हो गयी। उसे सत्य मिल गया। वह देवता बन गया।'

'यह चमत्कार था महाराज।'

'वह देवता बन गया। अपने संसार का स्वामी। उसने पक्षपात, अभिमान, घृणा और भय की भावना को मन से निकाल दिया। झूठ बड़ी-बड़ी पदवियां धारण करके आया—बड़े-बड़े धर्म और राजनीति के ग्रन्थ लेकर, उसे अपनी राह पर ले चलने के लिए—पर उसने उनकी ओर आंख उठा कर भी नहीं देखा।'

'यह सत्य की जय हुई।'

'सत्य ने उसे अतीत की भूलों से बचाया। वह जहां गया—सत्य उसके साथ था। उसके ज्ञान का भण्डार ज्यों-ज्यों बढ़ता गया, वह संसार को ज्ञान दान देता गया।

'ज्ञान-दान देता गया।'

उसने सबसे कहा—'भाइयो, मैं तुम्हारा हूं। तुम्हारे लिए हूं। मेरी वाणी स्वतन्त्र है। सत्य उसकी राह दिखा रहा है। सब कुछ खुला है—प्रकट है—छिपा कुछ नहीं है। यही सत्य का आदेश है—कुछ न छिपाओ।

उत्तेजना को शांत करो। पक्षपात छोड दो। बुद्धि का दिया जलाओ। उसके प्रकाश में देखो, खूब देखो।'

'इसी से वह मनुष्य से देवता बन गया।'

'तुम अपने विचारों को सच्चाई मे कह दो। अपने लिए सोचो। तुम स्वय भी देवता बन जाओगे। प्रत्येक मनुष्य देवता बन सकता है। देवता बनकर वह अपना कल्याण कर सकता है। दूसरों का कल्याण कर सकता है। देवता बनकर मनुष्य अभाव और अपराध के ससार से हट जायेगा। वह ऐश्वर्य-सम्पन्न हो जायेगा। जिनके विचार शुद्ध, अकपट, जीवन भय-ईर्ष्या, द्वेष-मत्सर रहित है, जिन मनुष्यों के मस्तिष्क ज्ञान से और हृदय प्यार से भरे हुए हैं, वे ही सत्य की राह जा सकते है। मैंने इसी से सत्य की राह ली है राधागुप्त।'

'सत्य सम्पन्न है महाराज। इसी से आपने सत्य का आश्रय लिया है परन्तु दुर्भाग्य है कि राज परिषद···'

'राधागुप्त, रुक क्यों गये ? सत्य कहो राज परिषद मे क्या···?'

कल रात्रि मे राज-परिषद की एक गुप्त मत्रणा बैठी थी। राजआमात्य एवं राजवर्गीय तीस प्रमुख अधिकारी उसमे उपस्थित थे।

'फिर ?'

'उसमे यह प्रस्ताव पास हुआ कि सम्राट और राधागुप्त दोनों को पदच्युत करके आयुष्मान सम्प्रति का युवराज्याभिषेक किया जाय।'

'ओह, तो मैं अब शासन के योग्य रहा भी कहा ?'

'वे कहते है कि साम्राज्य डगमगा रहा है। सम्राट धर्म भावना से प्रेरित है उन्होने रण-भेरी को धर्म-भेरी और वीर-घोष को धर्म-घोष बना दिया है। इससे सीमान्तों के उपद्रव बढते जा रहे है। हम सेना रखते भी सुव्यवस्था नही कर सकते। सम्राट राजकोष का सारा ही धन संघारामों के निर्माण मे व्यय कर रहे है। राजकोष खाली होता जा रहा है। राज्य के अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य रुक गये है। सेना की व्यवस्था भी बिगड़ रही है। न सेना के शस्त्रों पर ध्यान दिया जाता है—न अन्य आवश्यकताओ पर। सैनिकों को कोई कार्य ही नही रह गया है। वे पूरे निष्क्रिय हो गए हैं।'

'आपके प्रति इस दोषारोपण के बाद परिषद ने तीन बार पूछ कर

सर्व सम्पत्ति से आपको पदच्युत कर आयुष्मान सम्प्रति को युवराज्याभिषेक कर उनके नेतृत्व में तीस सदस्यों की राजपरिषद द्वारा साम्राज्य का शासन संभालना स्वीकृत हुआ।'

सम्राट ने धैर्यपूर्वक सब कुछ सुना और दीर्घ निःश्वास लेकर पूछा—'आयुष्मान धर्म विवर्धन के स्थान पर आयुष्मान सम्प्रति क्यों?'

'राजमहिषी पद्मावती की अभिलाषा से।'

यह सुन सम्राट गहरे विचार में डूब गए। राधागुप्त भी विचारमग्न हो बैठे रहे।

सत्ताईस

मंत्री परिषद के कार्य पर सम्राट ने क्रोध नहीं किया। परन्तु इसने उनकी महानता पर आघात तो किया ही, जिससे वे मर्माहत हो उठे। अभी वे परिषद कार्य पर विचार कर ही रहे थे कि राधागुप्त ने आकर एक और कष्टप्रद समाचार उन्हें सुनाया, जिसे सुन वे अत्यन्त क्लांत भाव में डूब गये।

उन्होंने राधागुप्त से पूछा—'आप कहते हैं—देवी तिष्यरक्षिता ने?'

'हां महाराज।'

सम्राट ने मर्माहत होकर फिर पूछा—'उन्होंने गया के पवित्र बोधि वृक्ष को कटवा कर जलवा भी डाला?'

'हां महाराज।'

'तो मैं अभी देवी तिष्यरक्षिता से साक्षात करना चाहता हूं।'

'जैसी आज्ञा।' कहकर राधागुप्त ने दासी को रानी को बुलाने भेजा।

तिष्यरक्षिता ने आकर पूछा—'आर्यपुत्र की जय हो। आपने मुझे याद किया?'

'देवी, मैंने कुछ अप्रिय बात सुनी।'

'किसके सम्बन्ध में ?'

'देवी के ही सम्बन्ध में।'

'तो यह झूठी है।'

'तब तो ठीक ही है। राधागुप्त। तुम क्या कहते हो ?'

'महाराज, देवी की आज्ञा से बोधिवृक्ष काटकर जला डाला गया।'

'देवी क्या कहती है ?'

'सत्य है सम्राट।'

तिष्यरक्षिता ने उत्तर दिया।

सम्राट ने दुःखी होकर पूछा—'क्या तुम्हारी आज्ञा से ?'

'हां सम्राट।'

'ऐसा क्यों किया गया ?'

'वह एक अन्धविश्वास, शिष्टाचार और भ्रष्टाचार का केन्द्र था।'

राधागुप्त बोले—'महाराज, महिषी ने बोधि तीर्थ के विहार को भी बन्द करा दिया है।'

वह सुन सम्राट ने कहा—'शातं पापं! शातं पापं॥'

रानी बोली—'सम्राट, वह तो हुर्दंगों का अड्डा मात्र था। तथागत की आज्ञा के विपरीत था।'

'तथागत की आज्ञा के विपरीत क्यों ?'

'सम्राट, तथागत ने अपने बताए मार्ग पर चलने के लिए अहिंसा-सत्य अस्तेय और अपरिग्रह का अनुगामी बनने पर बल दिया था। इन आरामों में इन बातों पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। मैं यह धर्म-दोष न देख सकी—इसी से।'

'धर्म-दोष कैसा देवी ?'

'सम्राट, विहारों में रहकर भिक्षु-संघ परिग्रहवान बन रहा है। वह निष्क्रिय होता जा रहा है। यही धर्म-दोष है।'

'किन्तु सहवास अच्छे और बुरे कार्यों के गुणावगुणों का जीवन में सहसा ही समावेश हो जाता है। यह तो तुम भी जानती हो।'

'जानती हूं सम्राट।'

'तो देवी, मनुष्य प्रज्ञावान प्राणी है। अनुभव से जिस ज्ञान का विकास होता है, वह 'प्रज्ञा' कहाती है। मनुष्य अपनी 'प्रज्ञा-सत्ता' ही से प्रगति की ओर उन्मुख होता है।'

'सम्राट ने ठीक कहा।'

'देवी, यह प्रगति एक मनुष्य के ज्ञान से नही होती, एक मनुष्य के अनुभव से उसके समकालीन और आगे आने वाली पीढ़ियां लाभ उठाती है। इससे निरन्तर मनुष्य की प्रज्ञा समाज के विकास में सहायक होती है '''और वह एक मनुष्य की नहीं—समाज की 'प्रज्ञा' कहलाती है। इसी से तथागत ने सघ का विकास किया। इसी से मैंने विहारो की स्थापना की।'

'किन्तु महाराज।'

'गुरुतर अपराध करने पर भी मैं तुम पर दोष नही कर सकता''' क्योकि यह तथागत के अहिंसा-तत्व का विरोध होगा।'

रानी ने व्यग्य करके पूछा—'तथागत का अहिंसा-तत्व कैसा है सम्राट?'

'प्रज्ञा' की बात मैंने तुमसे कही। यदि प्रज्ञा के साथ उसी अनुपात में अहिंसा का विकास न हो, प्रज्ञा से मनुष्य लाभ नही उठा सकता। यदि प्रज्ञा मे अहिंसा का समावेश नही हुआ तो मनुष्य सबल मनुष्य को सताएगा, उसे मौत के घाट उतार देगा। उसका 'प्रज्ञा' के सहारे अपना विकास दूसरे के लिए घातक सिद्ध होगा। उसमे ईर्ष्या तथा प्रतिहिंसा की भावना उमड़ पड़ेगी। अन्त मे वह घातक कार्यकलापों मे ही अपनी समस्त प्रज्ञा व्यक्त कर डालेगा।

'सम्राट, 'प्रज्ञा' भी तो मनुष्य की एक शक्ति ही है।'

'है, 'प्रज्ञा' मनुष्य को शक्ति प्रदान करती है, किन्तु प्रज्ञा के साथ अहिंसा भी हो तो वह शक्ति स्थायी एव जनकल्याणकारी सिद्ध होती है। इसके विपरीत विध्वस।'

'सम्राट'''

'देवी, बड़े-बड़े जघन्य संहारक कुकर्म ससार में इसी कारण होते रहते है कि 'प्रज्ञा' को अहिंसा का प्रश्रय नही मिलता।'

'तो इससे क्या!'

'बहुत भयानक बात है देवी। छूछी 'प्रज्ञा' मनुष्य को खा डालती है। 'प्रज्ञा' और अहिंसा का मेल होना ही चाहिए। इनका मेल ही सोने में सुगंध उत्पन्न कर देता है। कलिंग के युद्ध को ही लो, बिना अहिंसा के मैं केवल प्रज्ञा पर भरोसा रखकर कर्मक्षेत्र में कूदा, तब वह मुझे सत्य मार्ग से विमुख कर असत्य मार्ग पर ले गई। वहां, जहां हिंसा का नंगा नाच हो रहा था, क्रूरता अट्टहास कर रही थी, मेरे ही इन हाथों से असख्य निर्दोषों की गर्दन पर खड्ग-प्रहार हुआ। शोणित की नदी बह चली, महा वीभत्स दृश्य उपस्थित हो गया। मेरे हाथ रक्त रंजित हो गए। अब मैं अपनी प्रज्ञा को अहिंसा की चिरसगिनी बना चुका हूं, अतः तिष्य, मैं तुम पर क्रोध नहीं कर सकता, तुम पर ही क्यों, किसी पर नहीं कर सकता। क्षमा ही मेरा अमोघ अस्त्र है। अहिंसा मेरा धर्म है। सत्य मेरी राह है। जो भी हो, जैसा भी हो।'

यह कह कर सम्राट ने गम्भीर मौन धारण कर लिया।

अठाईस

सम्राट ने राधागुप्त से पूछा—'क्या कुक्कुटाराम को कोटि अनुदान दे दिया गया?'

'नहीं दिया गया महाराज।'

'क्यों नहीं दिया गया?'

'युवराज सम्प्रति के विरोध के कारण।'

'आयुष्मान सम्प्रति मेरे धर्मानुशासन का विरोध करता है?'

'ऐसा ही है महाराज।'

'ऐसा क्यों है राधागुप्त? आयुष्मान सम्प्रति तो बहुत प्रियदर्शन है।'

'ठीक है महाराज। किन्तु आमात्यों ने उन्हें सलाह दी है कि राजा

अशोक को सदा थोड़े ही रहना है, उनका थोड़ा समय शेष है। यह द्रव्य कुक्कुटाराम विहार को भेजकर नष्ट किया जा रहा है, यह उचित नहीं। राज्य-शक्ति कोष पर ही आश्रित है। अतः मना कर देना ही श्रेयस्कर है।'

'इसी से ?'

'कुमार ने भाण्डागारिक को राज-कोष से दान देने के लिए मना कर दिया। इसी से सम्राट की इच्छानुसार दान के लिए धन नहीं मिला।'

'परिषद ने तो कभी मेरे धर्मानुशासन का विरोध नहीं किया।'

'महाराज के धर्मानुशासन पर परिषद का नियंत्रण नहीं था, इसी से उन्होंने युवराज को अपने पक्ष में लिया।'

'तो मन्त्रि परिषद मेरे धर्मानुशासन के विपरीत मत रखती है ?'

'ऐसा ही है महाराज।'

'और तुम राधागुप्त ?'

'मैं महाराज का अनुगत सेवक हूं।'

'तो राधागुप्त, परिषद ने देवताओं के प्रिय को सम्राटपद से च्युत कर दिया ?'

'परिषद की सहमति से युवराज सम्प्रति ने।'

'तो राधागुप्त, मैं आयुष्मान को देखना चाहता हूं। परिषद् से साक्षात्कार करना चाहता हूं।'

'जैसी आज्ञा महाराज।'

'सम्राट की आज्ञा से राज्य परिषद जुड़ी, जिसमें राजआमात्य, परिषद के सदस्य, सम्राट, प्रधानामात्य राधागुप्त और युवराज सम्प्रति उपस्थित थे।'

सम्राट ने सम्प्रति से पूछा—'आयुष्मान, इस समय राज्य का स्वामी कौन है ?'

युवराज ने विनयावनत उत्तर दिया—'आप ही स्वामी है।'

सम्राट ने आंसू बहाते हुए कहा—'मुझ से तो राज्य छिन गया है पुत्र।'

युवराज उत्तर न दे नीची दृष्टि किए चुप रह गए।

यह देख राधागुप्त ने कहा—'परिषद कहे। मन्तव्य प्रकट करे।'

एक मंत्री बोले—'देवताओं के प्रिय-प्रियदर्शी धर्मराज अशोक हमारे स्वामी हैं।'

सम्राट ने पूछा—'तो मेरा धर्मानुशासन कैसे अमान्य हुआ ?'

'सम्राट ही ने सम्राट की मौखिक आज्ञाओं पर हस्तक्षेप का परिषद को अधिकार दिया है।'

'केवल तब, जब कि परिषद को संदेह हो कि आज्ञा महामंत्री की दी हुई है। उसका निर्णय भी मैं ही करता हूं।'

दूसरे मंत्री ने कहा—'महाराज की आज्ञा से हम राजकाज में नियुक्त किए गए हैं।'

'तो फिर ?'

'हमें राज्य का हित देखना है महाराज।'

'किस प्रकार भद्र ?'

'राजस्व या धन राजकार्य के लिए है।'

'तो भद्र, मेरा धर्मानुशासन तो सर्व-लोक-कल्याण के लिए है।'

'कैसा कल्याण महाराज ?'

'इस लोक में शासन द्वारा और उस लोक में परलोक द्वारा।'

'तो महाराज, हम भी प्रियदर्शी महाराज के धर्मानुशासन में सहायक हैं।'

'किस प्रकार भद्र ?'

'राज-वित्त, राज-कोप को राजहित में उपयोग करके।'

'किन्तु मेरा धर्मानुशासन।'

'जो ठीक है, वह चल रहा है। जो ठीक नही है, वह राज-कार्य में बाधक है।'

'धर्मानुशासन भी ?'

'महाराज, तथागत श्रमण ने 'अपरिग्रह' चौथा याम बताया था। उसका समावेश 'सम्यक आजीव' में है। 'सम्यक आजीव' भगवान बुद्ध ने बताया है कि भिक्षु को तीन चीवर और एक भिक्षा-पात्र अपने पास रखना चाहिए।'

'तू सत्य कहता है भद्र ।'

'महाराज, भगवान बुद्ध ने आज्ञा दी थी कि भिक्षु केवल वर्षा वास विहार मे करे, शेषकाल मे पर्यटन करे। धर्म का उपदेश दे।'

'ऐसा ही तथागत का शासन था।'

'तथागत मे काल के सघ को क्वचित ही राज्याश्रय प्राप्त हुआ था। श्रावस्ती के अनाथ-पिण्डक और विशाखा ने आराम निर्माण किए थे, उन्हीं मे तथागत ने वर्षावास किए।'

'वे आराम अब पवित्र स्थल है।'

'पर महाराज, भगवान तथागत के काल मे किसी भी महाराज ने उनके लिए विहारों का निर्माण नही कराया था। तथागत का धर्म राजा-महाराजाओ के लिए नही था। साधारण जनता के लिए था। केवल मध्य-वित्त के लोग ही उनके रहने आदि की व्यवस्था करते थे।'

'सुन रहा हूं भद्र ।'

'महाराज, प्रियदर्शी सम्राट ने यह स्थिति बदल दी है। बौद्ध धर्म को राज्याश्रित कर दिया है।'

'तो इसमे क्या हानि हुई भद्र ?'

'प्रियदर्शी सम्राट ने चौरासी हजार विहार बनवा दिए। जहा आज लक्षावधि भिक्षुणिया-भिक्षु सुख से रहते है। उत्तम शयनासन, उत्तम भैषज्य इत्यादि पाते है।'

'यह तो धर्म-लाभ है प्रिय।'

'महाराज, इससे भिक्षु-संघ परिग्रहवान बन गया है। वह निष्क्रिय होता जा रहा है। उनकी सम्पत्ति तो केवल तीन चीवर और एक भिक्षा पात्र थी। तथागत के काल मे संघ के निवास के लिए एकाध जगह ही होती थी। उस पर स्वामित्व गृहस्थ का होता था। भिक्षु-संघ इन स्थानो में चातुर्मास भर रहता, और शेष आठ मास प्रवाह करता हुआ लोगो को उपदेश दिया करता था।'

'ऐसा ही था भद्र ।'

'चातुर्मास के अतिरिक्त यदि भिक्षु-संघ कही किसी स्थान पर अधिक दिन रह जाता था तो लोग उसकी टीका करते थे। पर अब तो प्रियदर्शी

महाराज के बने विहारों में वे स्थायी रूप से निवास करने लगे हैं।'

'इसमें अधर्म हुआ सौम्य ?'

'हां महाराज, वे आराम से खाते हैं और मस्त पड़े मौज उड़ाते हैं। ध्यान-समाधि की भावना न होने पर भी वे अपने को उच्च समझते हैं। भिक्षुओं का नेतृत्व प्राप्त करने में पारस्परिक स्पर्द्धा दिखाते हैं। विहारों में अधिकार और गृहस्थ कुलों में सम्मान प्राप्त करने की इच्छा तथा गृहस्थ और भिक्षु मेरी आज्ञा-पालन करें, मेरे ही वश में रहें, ऐसा संकल्प उनका रहता है। अतः इच्छा और अभिमान की वृद्धि का होना स्वाभाविक है। प्रियदर्शी महाराज को विदित ही है कि लाभ का रास्ता और है और निर्वाण प्राप्त करने की दिशा दूसरी ही है। तथागत बुद्ध ने भी आदेश दिया था कि भिक्षु सत्कार का अभिनन्दन न करे, न उसकी इच्छा करे, निरन्तर विवेक की वृद्धि करता रहे।'

'ऐसा ही है भद्र। मैंने यथाशक्ति संघों में अनुशासन रखने का प्रयत्न किया है। जहां भी अयोग्य भिक्षु दृष्टिगत हुए, उन्हें तुरन्त ही बहिष्कृत कर दिया गया है।'

'देवताओं के प्रिय, प्रियदर्शी महाराज प्रसन्न हों। भिक्षुओं का निर्वाह अब भिक्षा से नहीं हो सकता। इसी कारण विहारों में आरामिक नियुक्त किए गए हैं। माध्यन्तिक स्थविर ने काश्मीर से संदेश भेजा है कि वे क्रीत आरामिक भिक्षु-संघ के प्रति विद्रोही हो उठे हैं। उनकी संख्या वहां इस समय लाखों में है। उनके दमन के लिए भिक्षुओं को समीपस्थ राजाओं की सेना का आश्रय लेना पड़ रहा है।'

'दुःखदायी सूचना है भद्र। और कुछ तू कहना चाहता है ?'

'यह तो मैं पहले ही कह चुका हूं महाराज कि संघारामों में पड़े-पड़े भिक्षु परिग्रहवान बन गये हैं। अब वे परिग्रह की रक्षा के लिए झूठ बोलते हुए भी नहीं हिचकते और पास के राजाओं से सहायता लेते हैं। संघारामों को दुर्गों का रूप देना पड़ा है। शस्त्र धारण करने पड़े हैं। अतः सत्य-अहिंसा और अपरिग्रह के यामों का भंग हो गया है। धर्मराज, यह धर्म नहीं है—अधर्म है।'

'इसी से आर्य संघ ने मेरा धर्मानुशासन अमान्य किया।'

'हां प्रियदर्शी महाराज, यही कारण है। पहले यज्ञकर्ता, कृषकों से बलात उनके पशु छीन लाते थे—बलपूर्वक उनसे श्रम लेते थे। जनता त्रस्त हो चुकी थी। तथागत की अमृतवाणी जब उनके कानों में पड़ी तो उसने अपनी सम्पूर्ण आस्था से उनके धर्म को अपना लिया—अब उसी जनता को आपके ये श्रमण, संघारामों के अधिपति होकर, राज्याश्रय से फूलकर, तंग करते हैं। संघारामों के लिए बलात् कर वसूल करते हैं। राज्य के अनुशासन की अवहेलना करते हैं। यह सब कल्याणकारी नहीं है महाराज।'

'तो मेरा साम्राज्य सुशासित नहीं है?'

'नहीं महाराज। राज्य में चारों ओर छिद्र उत्पन्न हो रहे हैं। भिक्षुसंघ अब राज-काज में बाधक हैं। राज्य का सारा धन इन संघारामों में पड़े-पड़े, आराम से उत्तम भोजन करने और राज्य के विरुद्ध षड्यन्त्र करने के लिए नहीं दिया जा सकता महाराज।'

सम्राट ठण्डा श्वास खींचकर बोले—ऐश्वर्य धिगनार्य। ऐश्वर्य धिगनार्य।। ऐश्वर्य धिगनार्य।।।

सम्राट के नेत्रों से आंसू झरने लगे।

उन्तीस

महाकुमार धर्म विवर्धन और चारुशीला गांधार का राज्यनिवास त्याग पांव प्यादे राह वीथी, नदी नाले, वन-पर्वत पार करते पाटलिपुत्र की ओर बढ़ते चले गये। अन्त में गंगा का वह तट आ गया जहां से पाटलिपुत्र के राजमहल दीखते थे। चारुशीला ने कहा—

'आर्यपुत्र, पाटलिपुत्र के महल दीख पड़ते हैं। अब मैं तनिक भी नहीं चल सकती। बहुत थक गई हूं। सूर्य भी अस्ताचल को जा रहे हैं। सामने एक उद्यान है। उद्यान में पुष्करिणी है। जल का आश्रय है। क्यों न आज

रात हम यही विश्राम करें ।'

कुमार ने उत्तर दिया—'यही ठीक रहेगा प्रिय, किन्तु—'

'किन्तु क्या आर्य पुत्र ?'

कुमार ने ठंडी सांस लेकर कहा—'प्रिये चारुशीले, तूने अपने नेत्र मुझे दान किए, इसी से तुझे सब राज-भोग त्याग मेरे साथ पाव-पयादे चलना पडा । यह कष्ट उठाना पडा । यह क्या तेरे उपयुक्त था । तू तो…' कहते-कहते उनका कंठ अवरुद्ध हो गया ।

'मैंने अपने नेत्र आपको दिए, इसी से क्यों प्रियतम ।'

'नही तो ।'

'मैं तुम्हें अकेला आने देती और मैं राज-निवास मे रहती ?'

'यही सुखकर होता । अब मैं कैसे यह सहन करूं ?'

'आर्यपुत्र, क्या दासी को इतना ही समझे ।' कहते-कहते वह पति के वक्ष पर सिर रखकर रोने लगी ।

कुमार ठडी सास खीचकर बोले—'यह बात नही प्रिये ! पर मुझे एक बात का दुःख है ।'

'किस बात का स्वामिन् ?'

'मैं आयुष्मान् संप्रति को न देख सकूंगा ।'

'तो प्राणनाथ, मैं भी आयुष्मान को न देखूगी ।'

'यह क्यों प्रिये ?'

'जिस सुख मे आप वंचित है, उसे मैं कैसे ग्रहण करूंगी भला ?'

'तूने तो अपने नेत्र मुझे दिए हैं ।'

'हा, आर्यपुत्र ।'

'तो इन्हीं से मैं भी आयुष्मान को देखूगा । तेरे ही नेत्रों से तो मैं अब जगत की सभी विभूतियो को देखता हूं ।'

चांदनी रात की निस्तब्धता में राजप्रासाद के पृष्ठभाग में शुभ्र वालू पर अंधे राजकुमार धर्मविवर्धन और उनकी पत्नी चारुशीला वीणा वादन और सगीत-साधना मे रत थे । हठात् कुमार ने पूछा—

'प्रिये, सम्मुख प्रासाद दीख रहा है न?'

शीला ने उत्तर दिया—'हां आर्यपुत्र ।'

'वह झरोखा भी, जहा तुम बैठकर गगा का सतत् प्रवाह अपलक देखा करती थीं।'

'हां आर्यपुत्र।'

'गंगा का मतत प्रवाह वैमा ही आज भी है न ?'

'हां आर्यपुत्र।'

'और चतुर्दशी का चन्द्रमा ?'

'वैसा ही है।'

'वह झरोखा ?'

'वह तो अन्धकार-पूर्ण है आर्य पुत्र।'

'उसी भांति जिस भांति मेरी आखें। आयुष्मान संप्रति भला कहा होगा ?'

'सुख से कोमल शैया पर सुखद नीद में मग्न होगा।'

'ऐसा ही हो और महाराज देवताओं के प्रिय-प्रियदर्शी महाराज ?'

'कदाचित…'

'चिंतित होंगे। यह अधम दास भी कभी-कभी उन्हे स्मृति मे आकर पीड़ित करता होगा।'

'प्रियदर्शी महाराज को अब हम बहिष्कृतो से क्या प्रयोजन है भला ?'

'प्रिये शीला, क्या तुम देवताओ के प्रिय महाराज पर असंतुष्ट हो ?'

शीला आखों में अश्रु भर कर बोली—'नहीं आर्यपुत्र, हमें अपने भाग्य पर संतुष्ट रहना उचित है।'

'तो हम आयुष्मान को कैसे देखेंगे ?'

'अब हम दीन-हीनों को यहा कौन पहचानेगा। राह बाट में आयुष्मान को कभी देख ही लेंगे।'

'प्रिय चारू, मुझे बता देना कि आयुष्मान की मुख-मुद्रा प्रसन्न तो है।'

यह सुन शीला रो उठी—'हाय, आज मुझे यह भी सुनना पड़ा। हाय तात !'

'इतना दुख किसलिए प्रिये ? जिसका चित्त काम, क्रोध, लोभ, मोह और मत्सर—इन पाच आवरणों से मुक्त हो गया है, वही सचमुच सुखी

है।'

'सत्य है आर्यपुत्र।'

'हमें तो देवानांप्रिय सम्राट धर्मराज के भी दर्शन करने हैं।'

'तो क्या आर्यपुत्र अपने को प्रकट करेंगे?'

'नहीं, अब मैं ससागरा पृथ्वी के अधिपति धर्मराज अशोक का अत्यन्त पूजित राजपुत्र कहां हूं? भिखारी 'कुणाल' हूं प्रिये, हमारा यह नाम हमारे नए परिधान की अपेक्षा अधिक अच्छा आवरण है। अब शोक से क्या। तुमने कहा था, स्वच्छ चांदनी रात है।'

'हां आर्यपुत्र।'

'और गंगा भी मंथर गति से बह रही है।'

'हां आर्यपुत्र।'

'तो गाओ प्रिये, गाओ कोई प्रेम-संगीत।'

कुमार ने वीणा साधी और शीला स्वर-ताल में गाने लगी—

मोहन प्रियतम स्वप्न सुखद सुख,
मैं बलिहारि सतत् उन्मुख।
घिर-घिर मेघ छए चहुंदिशि निशि,
तिमिराकुल निशि सुन सुपनवा।
उमड़ी लहर प्रलय जल मंझा।
भान बयार प्रकंपित झंझा
नदिया पार दीस दुर्गम पथ-
बहत जात अलि मोर घरनवा।
नदिया किनारे-मोर पनरवा।

अभी गायन चल ही रहा था कि एक सैनिक ने आकर बाधा दी और पूछा—'कौन हो भाई?'

'भिखारी है, दीन-हीन है, गृहहीन है, शयनाशनहीन है, भोजन-पान हीन है, क्या हमने कुछ अपराध किया है, भाई।'

'नहीं भाई, नहीं, तुम्हारी संगीत-सुधा से प्रेरित हो सम्राट तुम्हें अभी देखना चाहते हैं। चलो मेरे साथ।'

'किन्तु हम दीन, हीन भिखारी हैं, भाई।'

'प्रियदर्शी महाराज धर्मराज के राज्य मे कोई दीन-हीन नही रह सकता। तुम्हे स्वर्ण मिलेगा। चलो।'

'भाई, मैं अंधा आदमी हू। अपग हूं।'

'तो भद्र, मेरा कन्धा पकड। चल। सम्राट की आज्ञा है।'

कुमार ने पत्नी मे कहा—'तब चलो देवी।'

सम्राट अपने शयन कक्ष मे स्वर्णशैया पर अर्द्धसुप्तावस्था मे अधलेटे हुए थे। दो-एक परिचारिकाए निकट खडी थी। कक्ष मे मध्यम प्रकाश आ रहा था। खुले गवाक्षो मे गगा की रजतधारा और चारो ओर छिटकी चादनी की बहार दिखाई पड रही थी।

प्रहरी वीणाधारी कुणाल और उनकी पत्नी को लेकर वही आया। दोनो ने सम्राट के सामने नतमस्तक अभिवादन किया।

कुणाल को देखते ही सम्राट कुछ विचारने लगे। ध्यान मे देखकर पूछा—'कौन है भद्र ?'

कुणाल ने उत्तर दिया—'भिखारी हू देव।'

सम्राट चौंक पडे। वह क्या ? यह तो परिचित-सा कण्ठ स्वर है। उन्होंने पूछा—'तेरा क्या नाम है भद्र ?'

'कुणाल।'

'कहा का है भद्र ?'

'गांधार का देव।'

'अहा, वहा तो मेरा धर्मविवर्धन है। ऐसी ही वीणा वह बजाता है। मेरे पुत्र के समान कोई वीणा नही बजा सकता, इसका मुझे अभिमान है। तू भी वीणा बजाने मे वैसा ही निपुण है भद्र। किन्तु तेरे नेत्र, हन्त। अभी तू अल्पवयस्क है। कैसे तेरे नेत्र नष्ट हुए भद्र ? करुणा होती है मुझे।'

'महाराज, भाग्य-दोष से मैं नेत्रो को गंवा बैठा।'

'फिर वही स्वर। वही कण्ठ-स्वर। इस क्षण तो मुझे पुत्र विवर्धन याद आ रहा है।'

सम्राट ने स्त्री को रोते देखकर पूछा—'तू रोती क्यों है पुत्री ? तुझे क्या दुःख है ? प्रसन्न हो पुत्री। अपने सम्राट से कह, वह कैसे तेरा दुःख दूर कर सकता है ?'

शीला आंसू पोंछ कर बोली—'देव, प्रियदर्शी के चरणों के दर्शन करने मात्र से ही हमारे सब दुःख दूर हो गए।'

'कैसा कोमल स्वर है। यह भी जैसे सुन चुका हूं, अथवा वृद्ध और रोगी होने से मेरा मस्तिष्क विरक्त हो गया है। आयुष्मानो, क्या मेरे विवर्धन ने भी तुम्हारी वीणा और तुम्हारा स्वरालाप सुना है?'

'सुना है धर्मराज।'

'तो वह अब यहां आ ही रहा होगा। मैंने उसे बुलाया है, बहुत दिनों से देखा नहीं। तुम्हें देखकर वह प्रसन्न होगा। गुणीजन की सेवा वह जानता है।'

कुणाल ने पूछा—'देव, आज्ञा हो तो वीणावादन करें।'

'नहीं-नहीं, वार्तालाप करो प्रियदर्शनो। मुझे तुम बहुत प्रिय लग रहे हो। जैसे तुम्हीं मेरे विवर्धन हो।'

पितृ स्नेह पाकर कुणाल पुलकित हो रो पड़े, और पितृचरण की दिशा में चलकर सम्राट के चरणों में गिर पड़े।

'अरे, अरे, यह क्या?...यह क्या?'

'देव, पितृचरण प्रसन्न हों।'

यह सुन सम्राट उद्वेग से खड़े हो गए। पूछा—'क्या तू... तू... मेरा विवर्धन...'

'वही कुपुत्र हूं महाराज, दण्ड मैंने भोग लिया, अब क्षमा प्रदान हो।'

सम्राट ने कांपते हुए पूछा—'कैसा दण्ड? कैसी क्षमा? तो तू प्रियदर्शन विवर्धन है...' यह कह सम्राट ने उन्हें छाती से चिपटा लिया। उनके आंसू बहने लगे—'प्रियदर्शन...तेरी यह दशा। मेरी छाती फट क्यों नहीं जाती। सुना वत्स, अपने दुर्भाग्य की हृदय-विदारक कथा सुना।'

'कुछ नहीं महाराज। भाग्य-दोष से।'

'अरे पुत्र, मैंने तुझे अपने निकट बुलाया था। तुझे, देखने को मेरी आंखें तरस रही थीं। देखा भी तो तुझे इस रूप में, बोल मेरे आशा-स्तम्भ। तुझे क्या हो गया पुत्र, किसने तेरे सुन्दर नेत्र छीन लिए?'

चारुशीला आगे बढ़कर बोली—'देव, प्रियदर्शी महाराज की आज्ञा से।'

सम्राट चौंक पड़े। बोले—'मेरी आज्ञा से। क्या कह रही है पुत्री?'

'महाराज···'

कुणाल ने बीच में रोककर कहा—'कुछ नहीं महाराज, जो होना था हो गया।'

'पुत्री। डर मत—कह डाल, जो कुछ तुझे कहना हो कह डाल, मैं सुनने के लिए आतुर हो रहा हूं।'

'महाराज की आज्ञा का आर्यपुत्र ने तत्काल पालन किया।'

'किन्तु कैसी आज्ञा?'

'आज्ञा, आपकी आज्ञा, प्रियदर्शी महाराज की ही आज्ञा पहुंची थी कि कुमार को राज्याधिकारों से च्युत करके उसके नेत्रों में तप्त शलाकाएं घुसेड़ दी जाए। उसे शीघ्र ही देश से बहिष्कृत कर दिया जाय।'

'हाय···यह मैं क्या सुन रहा हूं।'

सम्राट पागल की भांति सिर पीटकर मूर्छित हो गए।

तीस

सम्राट रुग्ण शैया पर अर्द्धमूर्छित अवस्था में पड़े बड़बड़ा रहे थे। राजवैद्य और आमात्य समीप खड़े उपचार कर रहे थे।

कुछ चैतन्य लाभ करके सम्राट ने पूछा—'कहां है पुत्र विवर्धन।'

एक आमात्य ने उत्तर दिया—'महाराज। राजकुमार अशोकाराम में चले गए हैं।'

'पर मैंने तो अभी अच्छी तरह प्रियदर्शन पुत्र को देखा ही नहीं। आ पुत्र, आ।'

फिर इधर-उधर देखकर पुकारा—'राधागुप्त···राधागुप्त।'

'महाराज, महामात्य राधागुप्त कुमार को देखने अशोकाराम की ओर गए हैं।'

'आ पुत्र, आ। हृदय से लग।'

इसी समय राधागुप्त के साथ आचार्य उपगुप्त ने सम्राट की शैया के समीप आकर उनको आशीर्वाद देते हुए कहा—'सम्राट का कल्याण हो।'

सम्राट ने उनकी ओर देखकर कहा—'आचार्य पाद है। अहा, आज तो महोत्सव है आचार्य।'

'प्रियदर्शी के साम्राज्य में नित्य ही महोत्सव होता है।'

पर सम्राट वैसे ही उन्माद मे बोलते रहे—'राधागुप्त! राधागुप्त!'

राधागुप्त ने कहा—'मैं सेवा में उपस्थित हूं महाराज।'

'बहुत अच्छा है—सब प्रबन्ध कर दो। युवराज का अभिषेक आज ही हो।'

'महाराज...'

'वाद्य-ध्वनि नहीं सुन रहा हूं। पुत्र पर छत्र मैं लगाऊंगा।'

यह कहकर उन्होंने उठने की चेष्टा की, परन्तु गिर पड़े।

'राधागुप्त!'

'महाराज!'

'आज सुख का दिन है। पुत्र विवर्धन आया है। वधू भी है। आज ही नगर में नक्षत्र होना चाहिए। राधागुप्त।'

'महाराज!'

'वाद्य-ध्वनि सुन नही पड़ रही है।'

'हा महाराज।'

सम्राट ने उन्मत्त की भाति हाथ फैलाकर पुकारा—'पुत्र विवर्धन, सुना तूने—वीणा मे तेरा एक प्रतिस्पर्धी उत्पन्न हुआ।'

'महाराज!'

'कौन है?'

'मैं राधागुप्त हू।'

'वह भिक्षुक तो पुत्र के समान वीणा-वादन नही कर सकता न।'

'महाराज, आचार्य उपगुप्त यहां पधारे है।'

'अभिवदना करता हू आचार्य ।'

'प्रियदर्शी महाराज का कल्याण हो। महाराज कुमार धर्म विवर्धन।'

'कहा है धर्म विवर्धन ?'

'अशोकाराम मे है। राजन्, उसने प्रव्रज्या ली है, उसे धर्म-लाभ हुआ है।'

'धर्मलाभ तो उत्तम है। किन्तु वाद्य···'

'राजन, युवराज के साथ ही देवी चारुशीला ने भी प्रव्रज्या ली है।'

'धर्मलाभ···धर्मलाभ···राधागुप्त !'

'महाराज !'

'कहा है पुत्र विवर्धन। वाद्य-ध्वनि अभी भी नही आ रही है।'

'महाराज···'

सम्राट ने उन्मत्त की भाति हसकर कहा—'तो पुत्र का अभिषेक हो गया। मन्त्रियो, नक्षत्र वनाओ। दीपोत्सव करो। समाज करो। अनुमति देता हू राधागुप्त।'

राधागुप्त आसू पोछते हुए वोले—'महाराज !'

सम्राट कहते रहे—'पुत्र से कहना कि उनका एक वीणा-प्रतिद्वन्द्वी राजधानी मे आया है। भिक्षुक है, अन्धा है। दीन-हीन है। उसे पुरस्कृत करे।'

राजवैद्य ने सम्राट को लिटाकर भैपज्य मुह मे डाल दी। कुछ ही क्षण वाद सम्राट को नीद आ गई।

इक्तीस

सम्राट की विक्षिप्त अवस्था का दुखद समाचार सर्वत्र फैल गया। यह भी विदित हो गया कि रानी तिप्यरक्षिता ने धर्मविवर्धन से अपनी अवज्ञा का

प्रतिशोध, गान्धार को वह जाली राजाज्ञा पत्र भेजकर लिया है। नागरिक उत्तेजित होकर राज महालय की ओर बढ़ने लगे। उन्होंने राज महालय में भीतर प्रवेश पाने की बहुत चेष्टा की, परन्तु प्रहरी तथा सम्राट के शरीर रक्षकों ने उन्हें भीतर नहीं आने दिया। भीड़ में से उत्तेजनामूलक घोष उठने लगे···

राजपुत्र धर्मविवर्धन का हम बदला लेंगे।
आंख के बदले आंख और नाक के बदले नाक।
रानी तिष्यरक्षिता को महिषीपद से च्युत करना होगा।
उसने निष्पाप कुमार विवर्धन की आंखें फोड़ दीं।
क्रूरकर्मा है, महिषी तिष्यरक्षिता।
उसने बोधिवृक्ष को जला डाला है।
उसने प्रियदर्शी को विष दिया है।
उसे हमारे सुपुर्द करो, हम उसे जीवित जला देंगे।
जीवित ही भूमि में गाड़ देंगे।
रानी को हमारे हवाले करो।
नहीं तो महालय का द्वार भग्न कर दिया जायेगा।

इन घोषों को सुनकर सम्राट की आंखें खुल गईं। उन्होंने क्षीणवाणी में पूछा—'यह कैसा कोलाहल है राधागुप्त ?'

राधागुप्त ने बताया—'प्रजा के प्रतिनिधि महारानी तिष्यरक्षिता को दण्ड देने की याचना करते हैं।'

यह सुन सम्राट आहत हो गए। पूछा—'क्या वे अपने सम्राट को दण्ड देना नहीं चाहते ?'

'सम्राट धर्मराज हैं, सम्राट की जय हो।'

'किन्तु रानी के पाप में मेरा भी भाग है। उन्हें कहो, यह तुम्हारे राजा का हृदय है, इसे विदीर्ण कर दो।'

'महाराज, अपराधी को दण्ड मिलना चाहिए।'

'इससे क्या होगा राधागुप्त। दण्ड से अपराध का शमन नहीं होगा।'

बाहर खड़ी भीड़ महल पर अत्यन्त उत्तेजित और क्रुद्ध होकर आक्रमण करने को तत्पर हो गई। सैनिक शस्त्र निकाल कर अवरोध करने लगे

परन्तु इसी समय भिक्षु-वेश मे राजकुमार धर्मविवर्धन वहा आ पहुंचे। उन्होंने हाथ ऊंचा करके कहा—'भाइयो, अक्रोध से क्रोध को, भलाई से बुराई को, दान से कृपणता को और सत्य मे झूठ को जीतना चाहिए।'

धर्मविवर्धन को वहा देख भीड की उत्तेजना शान्त हो गई। लोगों ने चिल्ला कर कहा—'युवराज।'

कुमार ऊंचा हाथ करके भीड में घुमते चले गए। उन्होने कहा, भाइयो मगल कामनाए करो। उन्होने वीणा साधकर गाना आरम्भ किया—

सत्संग करो उत्तम मंगल।
निस्संग रहो उत्तम मंगल।
सुफल कर्म उत्तम मंगल।
दुख निरोध उत्तम मंगल।
ब्रह्मचर्य उत्तम मगल।
मित भाषण उत्तम मंगल।
गुरुजन-सेवा उत्तम मंगल।
सदाचार उत्तम मंगल।
आत्मदान उत्तम मगल।
भूत-दया उत्तम मंगल।
निर्वैर हृदय उत्तम मंगल।

सारी भीड़ शान्त होकर कुमार के साथ मंगल ध्वनि गाती उनके पीछे-पीछे चलने लगी। कुमार आगे बढ़ते गए। राजमहल पर आक्रमण करना वे भूल गये। आक्रोश जाता रहा। कुमार पूछते-पूछते रानी तिष्यरक्षिता के आवास की ओर बढ़ चले। रानी एकान्त कक्ष में बैठी मन ही मन अपने कार्यों का विवेचन कर रही थी···

वैर पूरा हो गया। पूरा न सही, आंशिक ही। विवर्धन की आखें गईं, जिन पर उसे गर्व था। सम्राट भी तेज भंग हुए, जिन्होंने साम्राज्य की ओट मे मेरे यौवन का हरण किया। धर्म-पाखण्ड। कोरा धर्म-पाखण्ड। धर्म-भेरी धर्म-घोष, केवल बाल-भाव। मूर्खों को काषाय पहना उन्हें विहारों मे रख माल-मलीदे उड़ाना कैसा धर्म है? मैंने बोधिवृक्ष को कटवा जला डाला, सम्राट ने मेरा क्या कर लिया। विवर्धन की मैंने आखें निकलवा ली। प्रजा

कुपित हुई। उसने राजा से मेरे न्याय की मांग की। हुह ''राजा मेरा न्याय करेगा !!

परन्तु इस विवेचना मे विघ्न पड़ा। उसने अपने कक्ष मे ही एक दिव्य वाणी का स्वर सुना—'आपका कल्याण हो देवी।'

रानी ने चौंककर पीछे देखा—'कौन ? कुमार विवर्धन ?'

'भिक्षु कुणाल हूं आर्ये।'

'तो यहां किसलिए आए हो ?'

'भिक्षा के लिए आर्ये।'

'कैसी भिक्षा ?'

'काम की भिक्षा, क्रोध की भिक्षा, लोभ-मत्सर की भिक्षा, ईर्ष्या की भिक्षा। यह सब इस भिक्षा पात्र में डालकर निष्पाप हो जाओ देवी।'

'मैं पापिन हूं, यह तुमसे किसने कहा विवर्धन ?'

'किसी ने भी नही।'

'क्या तुम्हे मुझ पर सन्देह है ?'

'विश्वास है देवी।'

'कैसा विश्वास ?'

'कि माता भिक्षा देंगी। मैं आपका पुत्र कुणाल भिक्षु हू आर्ये।'

यह सुन तिष्यरक्षिता के शरीर में कम्पन हुआ।

वह आहत स्वर में बोली—'चले जाओ, चले जाओ कुमार।'

'बिना ही भिक्षा लिये ?'

'मेरे पास भिक्षा नही है।'

'तो माता, अपने इस पुत्र ही से कुछ ले लो।'

'क्या दोगे तुम ?'

'दया, प्रेम, अवैर, अक्रोध।'

'तो क्या तुम जान गए कि···'

'वह आज्ञा पत्र आप ही ने लिखा था। तो इससे क्या ? जैसे पिता वैसी माता। मैंने आज्ञा का पालन कर लिया।'

'तुम जानते हो कि मैंने तुम्हारी आंखें फुड़वाई हैं। तुम जानते हो कि मैं तुम्हारी वैरिन हूं।'

'जानता हू माता।'

'फिर भी तुम मेरे पास आए हो।'

'हा माता।'

रानी के नेत्रो मे झर-झर आंसू गिरने लगे। वह सिक्त कण्ठ से बोली—'कुमार, मैंने तुमसे प्रेम किया था।'

'जानता हू माता।'

'और तुमने उसका तिरस्कार किया था···'

'मैंने आपका सत्कार किया था माता।'

'और अब ?'

'आपकी कल्याण-कामना करता हूं। वैसा ही सत्कार करता हू।'

'यह जानकर भी कि मैं तुम्हारी वैरिन हूं ?'

'आप मेरी माता हैं'···मैं तो इतना ही जानता हूं।'

'मेरा वैर···'

'मैंने उसे ग्रहण ही नही किया।'

'तो तुमने मुझे क्षमा कर दिया।' इतना कहते ही रोती हुई वह कुमार के पैरो मे आ गिरी।

'महारानी, जिस मनुष्य के मन से लोभ, द्वेष और मोह—ये तीनो मनोवृत्तिया लोप हो गई है, वही चारो दिशाओ में प्राणि मात्र के प्रति मैत्री-भाव प्रसारित करता है। अपने मैत्रीमय चित्त से चारो दिशाओ मे बसने वाले समस्त प्राणियों पर वह प्रेम की वर्षा करता है। करुणा-मुदिता और उपेक्षा की भावनाओ का उसे अनायास ही सुलभ लाभ हो जाता है···'

वासनाएं सकल दुस्तर तिमिर,
अनगिनत शुचि-अशुचि दुर्मद अवर।
विचल जीवन मोह बहिरागमन,
कामना प्रति पराजित खलन।

वत्तीस

स्तब्ध रात्रि थी। सम्राट अर्धमूर्छितावस्था मे बेसुध पडे हुए थे, राजवैद्य उपचार कर रहे थे। महामात्य राधागुप्त सम्राट के निकट खडे उनके प्रतिभाहीन पीत मुख की ओर देख रहे थे। एकाएक चैतन्य होकर सम्राट ने पुकारा—'राधागुप्त !'

राधागुप्त ने उनके कान के पास पहुच कर कहा—'महाराज।'

'कुक्कुटाराज का अवदान पूरा हुआ ?'

'नही हुआ महाराज।'

'मेरे सब रत्नाभरण, भोजन के स्वर्ण-रजत पात्र, वस्त्र और भोग-द्रव्य सब देकर भी पूरा नही हुआ ?'

'नही हुआ महाराज।'

'कितना शेष रहा, राधागुप्त ?'

'शतभार स्वर्ण महाराज।'

'शतभार। राधागुप्त, अब और तो मेरे पास कुछ भी नही है। जब मैंने अपने रत्न और स्वर्ण-पात्र संघ को दे दिए तो मेरा भोजन रजत-पात्रों में आया, वे भी मैंने वहा भिजवा दिए। तो फिर कास्य पात्रों मे आया, वे भी मैंने भिजवा दिए। फिर मृत्तिका पात्रों मे आया, वह भी मैंने वहां भिजवा दिए। अब तो पर्ण-पत्रो पर भोजन आता है। मैंने आधा भोजन भिजवाया तो फिर आधी मात्रा ही मे मुझे भोजन मिलने लगा। उसमें से भी मैंने आधा भेज दिया तो उसको आधा मात्रा में आया। आज तो मैंने निराहार रहकर सारा ही भोजन सघ को दे दिया'''तब भी मेरा अवदान् पूर्ण नही हुआ राधागुप्त !'

'नहीं हुआ महाराज।'

'दुर्भाग्य है राधागुप्त !'

'महाराज !'

हठात् सम्राट को कुछ स्मरण हुआ। वे बोले—'राधागुप्त। अभी एक वस्तु मेरे पास है।'

'क्या है महाराज ?'

सम्राट ने वस्त्र से एक आवला निकालकर दिखाया—'यह भैपज्य। अभी मुझे वैद्यराज ने दिया है। इसे आराम में ले जाओ राधागुप्त, और मेरा अवदान पूर्ण करो।'

इसी समय आचार्य उपगुप्त, भदंत कोदिनीपुत्र आचार्य कास्सगोत, स्थविर मज्जहिमा, आचार्य हरितपुत्र आदि संघ-स्थविर एवं बहुत से प्रमुख भिक्षु वहां आ पहुंचे। सम्राट की बातों में अवरोध आ उपस्थित हुआ।

राधागुप्त ने आचार्य उपगुप्त से कहा—'आचार्य, सम्राट का कुक्कुटाराम को दिया एक अवदान शेष है। अब देवानां प्रिय महाराज अशोक की सम्पत्ति में यही एक आवला शेष है। इसी से सम्राट अवदान पूर्ण किया चाहते हैं।'

आचार्य उपगुप्त आवला लेकर बोले—'यहां भदन्त कोदिनीपुत्र कुक्कुटाराम के संघ स्थविर उपस्थित हैं। वे ही इसे ग्रहण करें।'

कोदिनीपुत्र ने आंवला ले लिया और बोले—'महाराज। यह भैपज्य है। आधा सम्राट ग्रहण करें। आधे ही मे मैं अवदान पूर्ण करता हू।' यह कह कर उन्होंने आधा आंवला सम्राट को दिया। शेष आधा भिक्षुसंघ को देकर बोले—संघ सुने। यह देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी महाराज का शतभार स्वर्ण अवदान पूर्ण हुआ। इस आधे आंवले को सूप मे डालकर सब संघ भोजन मे ग्रहण करे।'

सम्राट ने प्रसन्न होकर कहा—'मैं मुक्त हुआ। मेरा अवदान पूर्ण हुआ। आचार्यपाद...।'

आचार्य उपगुप्त सम्राट के मुख के पास अपना कान ले गए और बोले—'कहिए?'

सम्राट ने कहा—'आचार्य, मुझे प्रव्रजित कीजिए। उपसम्पदा कीजिए।'

उपगुप्त ने पवित्र जल सम्राट के मस्तक पर छिड़क कर कहा—'कहो राजन्...'

युद्ध मरणं गच्छामि।
सघं मरणं गच्छामि।
सत्य सरणं गच्छामि।

तीन वचन कहते-कहते सम्राट की वीणा जड होने लगी।

उनके महाप्रयाण की वेला आ उपस्थित हुई। अन्तःपुर मे राजमहिषियां हाहाकार करतीं उनकी शैया के निकट आ भूमि पर बैठ गईं। तिष्यरक्षिता बाल खोले अस्त-व्यस्त भाव मे वस्त्र संभालती—'सम्राट, प्रियदर्शी सम्राट, उदार सम्राट, मेरे जघन्य अपराधो को क्षमा करो।' कहती हुई गिरती पड़ती सम्राट के चरणों मे आ पडी।

इसी समय सम्राट ने अन्तिम श्वास ली।

पूर्णता से पूर्ण मानस लोक,
सत्य सद्भासित सुवर्णालोक।
मन गगन की पूर्ण यह अभिलाष,
पंचभूतों की विनजित भास।

तैंतीस

आश्विन मास की शुक्ल पक्ष की अष्टमी की रात्रि के अन्तिम प्रहर में चैत्य पर्वत पर वर्षावास करता हुआ सम्पूर्ण भिक्षुसंघ उपस्थित था। पर्णशैया पर जीर्ण शरीर अस्सी वर्ष के वृद्ध महामहेन्द्र धर्मदूत अपनी जन्मभूमि से दूर सिंहल द्वीप में जीवन की अन्तिम श्वासें ले रहे थे। भिक्षुसंघ पवित्र वाक्यों का घोष कर रहा था। दूर तक सहस्त्रों सुगन्धित दीप जल रहे थे। भिक्षुसंघ और भिक्षुणी थेरी रात्रि जागरण कर चुके थे। आर्या संघमित्रा की अवस्था भी अस्सी के समीप हो रही थी। वे भी धर्मदूत के निकट बैठी थी।

महा महेन्द्र क्षीण वाणी में बोले—'आर्या संघमित्रा, कठिन धर्मव्रत और श्रम ने इस जराजीर्ण शरीर को जर्जर और अशक्त कर दिया है। मेरा शरीर बहुत जीर्ण हो गया है। अब इस शरीर का अन्त होगा। यह

शरीर धर्म है।'

यह कह उनके मुख पर शांत हास्य-रेखा प्रस्फुटित हुई।

संघमित्रा ने कहा—'आर्य, हम धर्म से प्रेरित हो यहां इस अज्ञात द्वीप मे अपने जीवन के प्रभात ही मे आए थे। यहा रहते हमें युग बीत गया। अपने-अपने जीवन हमने धैर्यपूर्वक सधर्म की सेवा में अर्पित कर दिए। धर्म-राज देवताओ के प्रिय महाराज भी निर्वाण प्राप्त कर चुके है। अब हमें और क्या करणीय शेष रह गया है।'

'कुछ नहीं। आर्य, तुमने द्वीप की स्त्रियो को पवित्र धर्म के रंग मे रंग दिया है। पर अभी, जब तक जीवन है, तुम अपना कर्तव्य पूर्ण करना। *आज इस क्षण इस वीतराग भिक्षु को कुछ मोह हुआ है।* वह देखो, समुद्र की लहरे किनारों पर टकराकर उस पार के मित्रो की आनन्द-ध्वनि ला रही है। क्या महामेघ विहार के आयुष्मान सुमन आ गया है?'

संघमित्रा आंखों मे आंसू भरकर बोली—'आयुष्मान यही है।'

इधर-उधर देखकर 'कहा?'

संघमित्रा के संकेत से भिक्षु सुमन आकर भिक्षुराज के दोनों पैरो को अपनी गोद मे लेकर रोता हुआ बैठ गया। सुमन की अनुभूति प्रतीत कर महेन्द्र मुस्कराकर आशीर्वाद देने को हाथ उठाने लगे, पर दुर्बलता के कारण गिर गए। क्षीण स्वर मे बोले—'वहा नही पुत्र, यहा मेरी गोद मे आ। आर्य, मुझे तनिक सहारा दो।'

महेन्द्र ने उठने की चेष्टा की। संघमित्रा और सुमन ने सहारा देकर उन्हे बैठाया।

महेन्द्र क्षीण स्वर में 'पुत्र, पुत्र आ'—कहने लगे। सुमन रोते हुए उनकी गोद मे आ गिरा। भिक्षुराज के नेत्र निमीलित होने लगे।

संघमित्रा ने पुकारा—'आर्य, आर्य!'

महेन्द्र ने नेत्र खोलकर क्षीण स्वर मे कहा—'आर्ये, मेरे जन्म की ग्रंथि मुक्त होने का समय आ उपस्थित हुआ। आयुष्मान, शान्ति और धीरता के साथ धर्म के दीपक को सतत प्रज्वलित रखना। धर्मचक्र को अविराम प्रवर्तित रखना। धर्मपाल कहां है?'

धर्मपाल ने समीप आकर कहा—'प्रभु! प्रभु!!'

'पुत्र मृत्यु के बाद तू ही यहां इस धर्मासन को सम्हाल। तुझे मैं यह सौंपता हूं।' फिर संघमित्रा से बोले—'बस, यही इस जीवन-यात्रा की समाप्ति है।'

उसी रात्रि को धर्मपाल ने, जो कुमार के निकट ही सोता था, देखा कि उनका आसन खाली है। वह तत्काल उठकर पुकारने लगा—हे प्रभु! हे प्रभु!

समुद्र की लहरें किनारों पर टकराकर उस पार के मित्रों की आनन्द ध्वनि ला रही थीं। धर्मपाल ने देखा, महाकुमार भिक्षुराज बोधि-वृक्ष को आलिंगन किए पड़े हैं। उनके नेत्र निमीलित हैं। धर्मपाल लपक कर चरणों में लोट गया। लोग जाग गए थे और इसी ओर आ रहे थे। इस भीड़ को देखकर कुमार मुस्कराए, सबको आशीर्वाद देने को उन्होंने हाथ उठाया, पर वह दुर्बलता के कारण गिर गया।

संघमित्रा रो पड़ी—'आर्य, यह क्या? यह क्या?'

'आर्ये, जन्म का ध्रुव अन्त मृत्यु है। यह ध्रुव सत्य है। किन्तु तुम क्या शोकाभिभूत हो।'

'हां आर्य, हां अक्षय-कीर्ति!'

'ज्योत्स्ना का कैसा शुभ्रालोक है। यह क्या शोक का काल है। यह तो निर्वाण का आनन्द है...' कहते-कहते वाणी उनकी रुक गई। श्वास अवरुद्ध हो गया। शरीर निस्पन्द होकर गिर पड़ा।

धर्मपाल ने उठाकर देखा तो शरीर निर्जीव था। उस स्निग्ध चन्द्रमा की चांदनी में, उस पवित्र बोधि-वृक्ष के नीचे वह त्यागी राजपुत्र, ससागरा पृथ्वी का एकमात्र उत्तराधिकारी धरती पर निश्चिन्त होकर अटूट सुख-नींद सो रहा था, और भक्तों में जो-जो सुनते थे, एकत्र होते जाते थे और चार आंसू बहाते थे।

संघमित्रा ने शोकावेग रोक स्थिर वाणी में कहा—'भिक्षुओ, सावधान हो जाओ। इस ससागरा पृथ्वी के एकमात्र अधिकारी त्यागी राजपुत्र, वीतराग महास्थविर महामहेन्द्र निर्वाण पद पा गए। यहां, यह उनका पुण्य शरीर है।'

भिक्षु समुदाय अश्रुपात करने लगे। पवित्र मंत्र पाठ और घण्टे-ध्वनि

वायुमण्डल मे व्याप्त हो गए।

वह आश्विन मास के कृष्णपक्ष की अष्टमी थी, जब भिक्षुराज महेन्द्र ने जीवन समाप्त किया। उस समय यह महापुरुष अपने भिक्षुजीवन का साठवा वर्ष मना रहा था, उसकी आयु अस्सी वर्ष की थी। उसने अडतीस वर्ष तक लका मे बौद्ध धर्म का प्रचार किया।

उस समय महाराज तिष्य को मरे आठ वर्ष हो चुके थे। उसके छोटे भाई उत्तिष्य ने, जो अब राजा था, जब इस महापुरुष की मृत्यु का सवाद सुना तो वह बालक की तरह रोता और बिलखता हुआ उस पवित्र पुरुष के गुणगान करता दौडा।

चौंतीस

महामहेन्द्र का शरीर सुगन्धित ममालें लगाकर सुगन्धित तेल मे स्वर्ण-मजूषा मे रखा गया। समस्त द्वीप वासी रंग-विरंगे वस्त्र धारण किये, चारो ओर से आ-आकर विविध वाद्य बजाकर नृत्य-गान करने लगे। राज-सैनिक पक्तिबद्ध खड़े हो गए। विहार के चारो ओर पच्चीस योजन तक का प्रदेश ध्वजा-तोरण-पताका और फूल-पत्ती से सजाया गया। सिहल का राजा उत्तिय, पांव पयादे, राज-परिवार, राजवर्गीजन और अनुराधापुर के सम्पूर्ण निवासियों को साथ लेकर वहा आया। महामेघ वन-विहार से पनदंब विहार तक भिक्षुगण पवित्र वचनो का पाठ कर रहे थे। राज-परिवार के जन, नगर-नागर और सिंहद्वीपवासी अर्द्ध-सम्यजन टोलिया बनाकर अपने-अपने ढंग से भिक्षुराज को श्रद्धाजलि अर्पित करने लगे। चन्दन-चिता तैयार की गयी। सैकडो मन कपूर, कस्तूरी, अगर, कुकुम और अन्य गन्ध सोने-चादी के थालों मे भरे हुए थे। चिता के चारों ओर की भूमि फूलो से सज्जित की गई थी, पवित्र वाक्यों के उच्चारण के साथ

भिक्षुराज का शरीर चिता पर रखा गया।

राजा उत्तिय ने चिता परिक्रमा करके कहा—'दीपवासियो, जिस महापुरुष ने हमारे द्वीप को नवीन जीवन दिया, धर्म का नेत्र दिया, जीवन में नई सभ्यता की स्फूर्ति पैदा की, जिससे द्वीप भर में कलाकौशल में उत्क्रांति हो गई, जिसमें हमारा द्वीप धर्मराज अशोक के महाराज्य का पूरा प्रमाद संपन्न हो गया, जिसका हमारे द्वीप मे आगमन परम वरदान सिद्ध हुआ, यह महोसत्व आज हमसे विदा हो रहा है। आज हम उसके पुण्य शरीर का अग्नि-रथ-अभियान सम्पन्न कर रहे है।'

सब एक स्वर से जय-जयकार करने लगे। बहुत जन सिसक-सिसक कर रुदन कर भूमि पर प्रणिपात करने लगे। बहुत जन पवित्र वाक्यों का पाठ करने लगे।

राजा ने आंसू पोछकर कहा—'आज सात दिन से द्वीपवासी इस पुण्य शरीर के अन्तिम दर्शनों से अपने नेत्रों को धन्य करते रहे हैं। अब यह शरीर भी पंचभूतो में मिल जाएगा। द्वीपवासियो, पुष्प पैदा होते है, उनकी गंध शेष रह जाती है। पुण्य-शरीरों के पुण्य शेष रह जाते हैं। वे जहां चरण रखते है, वही स्थल पवित्र हो जाता है। आज जहां से धर्मराज धर्म-दूत का महा-प्रस्थान हो रहा है, वह भूमि आज से दीपवासियों की पवित्र तीर्थभूमि होगी। आज से इस स्थान का नाम 'भूमागन' हुआ। अब से, इस स्थान के आस-पास पच्चीस योजन के घेरे में जो पुरुष शरीर त्याग करेगा, वह अन्तिम सस्कार के लिए यहीं लाया जायेगा। धर्मराज का द्वीप में स्वागत मेरे भी जन्म से पूर्व मेरे पिता श्री महाराज तिष्य ने किया था। मेरे पिता को, उनके परिवार को, राज्य को, सिंहलद्वीप को इन महाधर्मदूत ने केवल पवित्र ही नहीं किया, दैवी सम्पदा से भर दिया। आज वे हमें धर्म की सम्पूर्ण सम्पदा दे जा रहे है। धर्मराज ने साठ वर्ष तक द्वीप में धर्मदान किया है। वे जिन-जिन गुफाओं में रहे, वे सब आगे 'महेन्द्र-गुफा' कहायेंगी। और जहां-जहां जिस शिला पर धर्मराज ने निर्वाण प्राप्त किया, वह शिला महेन्द्र शरशैया के नाम से प्रसिद्ध होगी। पहाड़ी के उस ओर का सरोवर, जहा भिक्षुराज स्नान करते थे, महेन्द्र कुण्ड के नाम से विख्यात होगा। धर्मराज के अवशेष का आधा चैत्य पर्वत पर स्थापित होगा, और वहां

प्रत्येक पौष की पूर्णिमा को मेला लगेगा। अवशेष का शेष भाग समस्त विहारों और प्रमुख संघों में स्थापित होगा।'

इतना कह और पवित्र शरीर को प्रणाम कर जब वह चिता में अग्नि देने को बढ़े तो लोग प्रचण्ड जय-जयकार कर उठे। कुछ लोग सिमक-सिमककर रोने लगे।

भिक्षु संघ जोर-जोर से पवित्र वाक्यों का उच्चारण करने लगे। देखते ही देखते चिता की लपटों ने उस पवित्र शरीर को घेर लिया। पूर्णाहुति होने पर शंख-वाद्य बज उठे।

जब चिता जल चुकी तो राजा ने राख का आधा भाग चैत्य पर्वत पर, महिंतेल में ले जाकर गाड़ दिया और शेष आधा समस्त विहारों और प्रमुख स्थानों में गाड़ने को भेज दिया।

लंका द्वीप को इस महापुरुष ने जो लाभ प्रदान किया, वह असाधारण था। उसने यहां की भाषा, साहित्य और जीवन में एक नवीन सभ्यता की स्फूर्ति पैदा कर दी थी और कलाकौशल में उन्नति मचा दी थी। यह सब इस द्वीप के लिए एक चिरस्थायी वरदान था।

आज भी वर्ष के प्रत्येक दिन और विशेषकर पौष की पूर्णिमा को, अनेकों तीर्थ यात्री महिंतेल पर चढ़ते दिखाई देते हैं, और प्राचीन कथाओं के आधार पर इस महापुरुष से सम्बन्ध रखने वाले प्रत्येक स्थान की यात्रा करके श्रद्धांजलि भेंट करते हैं।

जिस स्थान पर महाकुमार का शव-दाह हुआ था, वह स्थान अब भी 'इसी भूमांगन' अर्थात 'पवित्र भूमि' कहाता है, और तब से अब तक उस स्थान के इर्द-गिर्द पचीस मील के घेरे में जो पुरुष मरता है, यहीं अन्तिम संस्कार के लिए लाया जाता है।

इस राजभिक्षु ने जिन-जिन गुफाओं में निवास किया था, वे सभी महेन्द्र गुफा कहलाती हैं। अब भी चट्टान में कटी हुई एक छोटी गुफा को 'महेन्द्र की शैया' के नाम से पुकारते हैं। पहाड़ी के दूसरी ओर 'महेन्द्र कुण्ड' का भग्नावशेष है, जिसे देखकर कहा जा सकता है कि उस पर न जाने कितना बुद्धि बल और धन खर्च किया गया होगा।

पैंतीस

छठी शताब्दी समाप्त हो रही थी और उसी के साथ परम प्रतापी गुप्त साम्राज्य भी, जिसने पाटलिपुत्र के स्वर्ण-सिंहासन से गरुणध्वज की छत्र छाया में आधी पृथ्वी पर शासन किया और धर्म-ज्ञान-संस्कृति का अमर दान किया। पाटलिपुत्र की सारी श्री कन्नौज में आ जुटी थी जहां महानृप हर्षवर्धन मध्यकाल के सूर्य की भांति उत्तर भारत पर अखण्ड शासन कर रहे थे। उस समय उनके जैसा योद्धा, विद्वान, दाता और न्याय नरपति पृथ्वी पर दूसरा नहीं था।

उत्तर भारत में सम्राट हर्षवर्धन ने केवल सुव्यवस्था का शासन ही नहीं स्थापित किया था, वह अपने काल के बौद्ध धर्म को फिर से जागरित करने में भी तन-मन से लगा था। उसकी नीति उदार थी। विद्वानों और धर्म स्थानों के लिए तथा शिक्षा और संस्कृति के प्रचार के लिए उसने आय का चौथाई भाग अलग निकाल रखा था। इस धन से वह उच्चकोटि के विद्वानों को, ग्रंथ कर्ताओं को, धार्मिक पुरुषों को खुले हाथ दान देता था।

सम्राट की राजसभा जुड़ी थी। प्रमुख सभापंडित महाकवि बाणभट्ट अपने दिग्गज पुत्र भूषण भट्ट के साथ सम्राट के दक्षिण पार्श्व में विराजमान थे। उनके निकट ही महाकवीश्वर मयूर ऊंची गर्दन किए धवल वेश में बैठे थे। सभा मंडप में राजमंत्री, राज्य परिषद के सभ्य और उच्च सैनिक अधिपतिगण अपने-अपने आसनों पर बैठे थे। सबके बीच में नक्षत्र के समान तेजवान सम्राट हर्षवर्धन श्वेत परिधान पहने उच्चमणि पीठ पर विराजमान थे। सम्राट के सम्मुख परम बौद्ध विद्या-महारथी महापंडित जयसेन चंदन की एक चौकी पर शांत मुद्रा में बैठे थे।

सम्राट ने मधुर मुस्कान के साथ मधुर स्वर में कहा—सभासदगण, महापंडित जयसेन की सद्धर्म सेवा की कीर्ति पताका, विद्वत्ता और धर्म निष्ठा आज समस्त बौद्ध धर्म में विख्यात है। आचार्य जयसेन का पांडित्य अगाध है और सद्धर्म सेवा महान है। मान्यवर पंडितराज का सत्कार हमारे हृदयों में है, धन-दान से वह पूर्ण नहीं होगा। तथापि कलिंग के अस्सी गांवों का कर आज से आचार्य जयसेन को मिले। इसका यह पट्टा मैं आचार्य को

भेंट करता हूं।

सभी धन्य-धन्य कह उठे।

पंडितवर जयसेन क्षण-भर मौन मुद्रा में बैठे रहे। राजसभा में सन्नाटा छा गया। इस महादान के प्रत्युत्तर में आचार्य जयसेन सम्राट को किस प्रकार धन्यवाद देते हैं, यह जानने को सभी उत्सुक हो उठे। आचार्य जयसेन उठे। सभा में एक धीमा जनरव उठकर फिर तुरन्त ही सन्नाटा छा गया।

महापंडित जयसेन ने दोनों हाथ उठाकर सम्राट का अभिनन्दन किया। इसके बाद गम्भीर स्वर में कहा—'सम्राट, आपकी धर्म में जैसी रुचि है और जैसा आपका यश है, वैसा ही यह महादान आपने मुझ अकिंचन को मेरी धर्म सेवा एवं अक्षरज्ञान के उपलक्ष्य में दिया है। इस उदार दान ने आपको महान अशोक का समकक्ष बना दिया है। परन्तु सम्राट, मुझ भिक्षुक को इतना धन क्या करना है मुझे वर्ष में दो बार दो वस्त्र और प्रतिदिन एक बार ग्यारह अजलि अन्न चाहिए। इतना तो श्रद्धालु नागरिक मुझे अनायास ही भिक्षा दे देते है। फिर आपका यह धन निरर्थक क्यों रहे? धनराशि की आवश्यकता तो आप जैसे सम्राटों को होती है। जैसे विद्वान अपनी विद्या द्वारा मनुष्यों का कल्याण करते है, उसी तरह सम्राटों को धन द्वारा करना चाहिए। इसलिए धर्मात्मा सम्राट, अपने इस धन को अपने पास रखकर मनुष्य जाति के कल्याण में लगाए, यही मेरा आपसे अनुरोध है।'

आचार्य जयसेन का यह अतर्कित त्याग देखकर राजसभा स्तम्भित हो गई। कुछ काल तक सन्नाटा रहा, परन्तु तुरन्त ही 'साधु-साधु' की ध्वनि से विशाल समाज सभा मंडप गूंज उठा।

सम्राट हठात् रत्नपीठ से उठकर खड़े हो गये। सहस्रों सभासद नत-मस्तक हो अपने-अपने आसन त्याग उठ खड़े हुए। सम्राट ने आगे बढ़कर आचार्य के चरणों में प्रणाम करके कहा—'पंडितवर, आपका त्याग मेरे दान से बहुत बढ़कर है। आपकी चरणधूलि मेरे मस्तक की शोभा है। अब आप ही बताइए कि आपके इस त्याज्य धन का क्या उपयोग किया जाए?'

जयसेन ने शांत मुद्रा से कहा—'सम्राट रत्नपीठ पर विराजमान हों और सब राजसभासद अपने-अपने आसन ग्रहण करें। फिर मैं सम्राट को सत्परामर्श दूंगा।'

सम्राट रत्नपीठ पर बैठ गए। सब सभासद भी आसनों पर बैठे।

महात्यागी जयसेन ने कहा—'सम्राट, आज पाटलिपुत्र का एकच्छत्र साम्राज्य नष्ट हो गया और उसकी राज्यश्री ने आपके चरण चूमे हैं। जिस गुप्त वंश में समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त जैसे प्रतापी विश्व-विजयी योद्धा और अशोक जैसे महापुरुष हुए, वह गुप्त वंश छिन्न-भिन्न हो गया है। परन्तु महामाया सरस्वती ने गुप्त सम्राटों की विमल स्थली को अभी नहीं छोड़ा है। बिहार मे नालन्दा विश्वविद्यालय आज भी संसार की अद्वितीय विद्या-संस्था है। नालन्दा विश्वभारती मे दस हजार छात्र महाविद्याओं का अध्ययन करते है। ये चीन, जापान, भोट, तिब्बत, सुमात्रा, यूनान और समस्त संसार के दूर देशों से, अपनी ज्ञान-पिपासा को तृप्त करने और अज्ञानजनित अन्धकार को दूर करने आते है। वहां के आचार और नियम पृथ्वी भर में श्रेष्ठ और आदर्श माने जाते है। वहा के छात्र रात-दिन शास्त्र चर्चा में लगे रहते हैं। वहां पर बौद्ध धर्म के महायान तथा शेष अठारह बौद्ध सम्प्रदायों के परम गोपनीय शास्त्रों का अध्ययन करवाया जाता है। इसके सिवा हेतुविद्या, वेदविद्या, तन्त्र विद्या, शब्द विद्या, चिकित्सा शास्त्र, इन्द्र-जाल, अथर्ववेद और सांख्यादि, दर्शन, जोतिष के अलावा अनेक विद्याओं का अध्ययन होता है। इस विश्वभारती का लक्ष्य छात्रों की बौद्धिक और आत्मिक ज्ञान ज्योति को जागरित करना है। वहां के स्नातक धर्मपाल, गुणों मे स्थिरमति, चन्द्रपाल आदि महादिग्गज पंडितों के बुद्धि चमत्कार और सदाचार पर समस्त बौद्ध संसार गर्वित है। जैन धर्म के महा आचार्य महावीर स्वामी और उनके प्रमुख शिष्य इन्द्रभूति ने वहा चातुर्मास व्यतीत किया था। महाबुद्ध तथागत ने भी सपसादनीय सुत के बंध सूक्त का प्रवर्तन इसी क्षेत्र मे किया था। वहा ही वह जद्विख्यात अप्रतिम आम्रवाटिका है जिसे पाच सौ व्यापारियों ने दस करोड़ मुद्रा मे खरीदकर भगवान बुद्ध को अर्पण की थी तथा यही तथागत बुद्ध ने सारिपुत्र का समाधान किया था और इसी भूमि पर आर्य सारिपुत्र और आर्य मौद्गल्यायन अस्सी हजार अर्हतों के साथ निर्वाण पद को प्राप्त हुए थे। वहा के निवासियों का जीवन तपस्या, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा इन तीनों से प्रदीप्त है। महाराज, इस समय वहा एक सहस्र ऐसे विद्वान उपस्थित हैं जो दस विद्याओं के पारंगत हैं और पाच

सो ऐसे महापंडित है, जो तीस विद्याए जानते है। दस आचार्य पचास विद्याओ के ज्ञाता है। कुलपति शीलभद्र आचार्य और भगवान दीपंकर तो साक्षात सभी विद्याओ के सागर है। वहां सब समान हैं। राजा और रंक मे भेद नही है। सभी पर सब नियम समान रीति से लागू हैं।

'महाराज, यह महा विश्वभारती अस्तगत गुप्त सम्राटो की कीर्ति-कौमुदी का एकमात्र अवशेष है, जिसकी अब से पांच सौ वर्ष पूर्व प्रतापी शुक्रादित्य ने स्थापना की थी। महाराज, वही मौखरी राज ने वह अप्रितम बुद्ध प्रतिमा निर्माण की है जो शुद्ध अष्ट धातु मे बनी है, और जिसकी ऊचाई नब्बे हाथ है तथा जिसकी स्थापना छह मंजिल के श्वेत पत्थरो के भवन पर की गई है। सम्राट, आज गुप्त वंश की राजलक्ष्मी आपके चरण-तल मे है। आप महाविद्या व्यसनी और परम धार्मिक महानृप है। आप अपना अक्षय कीर्ति की स्थापना के लिए नालन्दा विश्वभारती के सरक्षक बनिए और दूसरे अशोक का स्थान पूर्ण कीजिए तथा यह संपत्ति, जो आप मुझको व्यर्थ ही दे रहे है, नालन्दा विश्वभारती को प्रदान कीजिए।'

इतना कहकर त्यागी साधुवर जयसेन अपने आसन पर मौन बैठ गए। सम्राट जडवत बड़ी देर तक बैठे रहे। सभास्थल मे सन्नाटा छा गया।

कुछ काल बाद सम्राट ने आखो मे आसू भरकर महामंत्री की ओर देखा और गद्गद वाणी से कहा—'आमात्य, आज से हम नालन्दा विश्व-भारती के सरक्षक हुए। अभी एक सौ आठ गावो का पट्टा नालन्दा विश्व-भारती के नाम लिख दो और वहा एक सौ आठ ऐसे भवनो का निर्माण कराओ जो पृथ्वी-भर मे अद्वितीय हों। साथ ही विश्वभारती के चारो ओर दृढ कोट बनवा दो, नालन्दा के प्रत्येक स्नातक के लिए मेरे कोष को खोल दो और मेरी आज्ञा के बिना ही उन्हे मुहमांगा धन दो।'

इतना कहकर सम्राट हर्षवर्धन ने खडे होकर अपने रत्न-जटित मुकुट को नीचा करके बद्धाजलि होकर आचार्य जयसेन से कहा, 'आचार्य वर, नालन्दा विश्वभारती के लिए मैने अपना सर्वस्व दिया। आप प्रसन्न होइए।'

जयसेन आसन से उठे, उन्होने दोनों हाथ ऊंचे करके कहा—'साधु राजन साधु।'

●●●